# वर्णाश्रम व्यवस्था का समालोचनात्मक अध्ययन

## (पुराणों के विशेष सन्दर्भ में)

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)
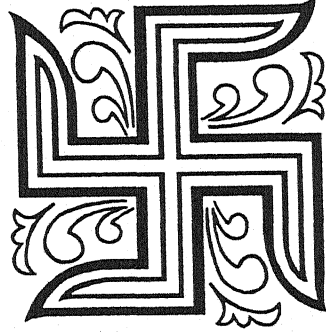
वर्ष - २००३



शोधार्थी-
**बद्री प्रसाद तिवारी**

निर्देशक-
**डॉ. गदाधर त्रिपाठी**
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी) उ०प्र०
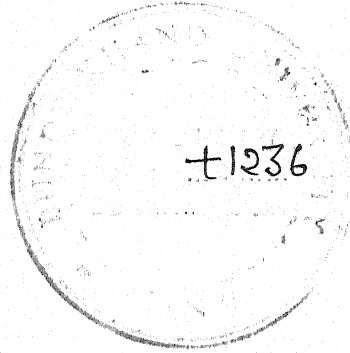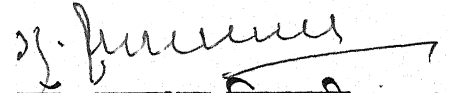
**श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी)**

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय)

# प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री बद्रीप्रसाद तिवारी ने वर्णाश्रम व्यवस्था का समालोचनात्मक अध्ययन (पुराणों के विशेष सन्दर्भ में) विषय पर मेरे निर्देशन में निर्धारित समय तक रहकर यह कार्य सम्पन्न किया है। इनका यह कार्य स्तरीय होने के साथ-साथ इनकी शोध-बुद्धि को भी प्रमाणित करता है।

मैं इनके जीवन में सतत् साफल्य की कामना करता हूँ।

**डॉ. गदाधर त्रिपाठी**
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी) उ०प्र०

सम्वत् : २०५६

# उपक्रम

प्राचीन से अनुप्राणित और उद्भूत वर्तमान सामाजिक संरचना में वेदों से लेकर अद्यतन साहित्य का अन्योन्याश्रित संबंध है। इसी साहित्य श्रृंखला में पुराण साहित्य शाश्वत् और अगाध है, जो मानव जीवन और समाज को अनुस्यूत और प्रभावित करता है। वर्तमान समाज की आदर्श संरचना और स्थापना प्राचीन समाज की संगति, समीक्षा और विवेचना के बिना नितान्ततः असंभव है। जातिवादी संकीर्णता और संरक्षण ने इस ओर पुनर्विचार हेतु वाध्य किया है। भारतीय संस्कृति के स्तुतिगान और शंखनाद से उसके वास्तविक स्वरूप को निर्धारित नहीं किया जा सकता, एतदर्थ महती आवश्यकता है एक समीक्षात्मक, निर्णीत और समन्वित सृजन की। संपूर्ण विकसित राष्ट्र की कल्पना और तदनुकूल सामाजिक व्यवस्था की चरितार्थता हेतु प्राचीन वर्ण और आश्रम व्यवस्था के चिंतन, मनन और शोधात्मक दृष्टि की आवश्यकता स्वतः परिलक्षित होती है। पुराण साहित्य में विविध मार्मिक कथाओं और रसप्लावित वार्ताओं के ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो वर्णाश्रम व्यवस्था के यथार्थ तथ्यात्मक प्रमाण हैं, जिन्हें आधारभूत चारों वर्णों और चारों आश्रमों के वर्गीकृत चार चौपायों के चौखटें में भलीभाँति कसकर प्राचीन संस्कृति और संस्कारों के ताने-बाने में बुनकर परखा जा सकता है।

इसी समीक्षात्मक कसौटी पर सामाजिक अध्ययन के उद्देश्य से मैंने अपने इस शोधबन्ध में अपना समेकित निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।

शोध प्रबन्ध के पाँच अध्याय निहित पंचानन के प्रस्ताव, परिचय, व्यवस्था, समीक्षा और परिणति के रूप में समग्र स्वरूपों का चिन्तन विधान है। मुझे आत्म विश्वास है कि साहित्य परम्परा की अविरल धारा में यह अन्वय विन्दु सिन्धु में समाहित होकर सुधी मनीषियों को आनंदित करेगा।

शासकीय सेवा के बहुआयामी बोझिल दायित्वों के निर्वहन और नैतिक शिक्षकीय जीवन तथा पारिवारिक समस्याओं और परिस्थितिओं के झंझावातों में वाधित शोधात्मक दृष्टि कुण्ठित हो चुकी थी। पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों की

अपरिहार्य अनिवार्यता वशात् श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली में तीन बार रहा। विद्यापीठ के अलौकिक मेधावी कुलपति डॉ0 वाचस्पति उपाध्याय ने मेरी लोक संगीत की प्रस्तुति से ओतप्रोत हो ''गुदड़ी के लाल'' की संज्ञा अपने उद्बोधन में दे डाली और परिचयात्मक निकटता की कृपा तथा ''लोक संगीत की परम्परा में मेघदूतम्'' विषय पर शोधकार्य करने की प्रेरणा दी। पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में सहभागी मित्र डॉ0 अम्बिकेश पटैरिया ने परम हितैषी मैत्रीभाव का निर्वाहकर, पौनः पुन्येन ''लोककला एवं संस्कृति'' की ओर अभिप्रेरित कर, अपने परमश्रद्धेय गुरुवर डॉ0 गदाधर त्रिपाठी, विभागाध्यक्ष संस्कृत, श्री अग्रसेन महाविद्यालय मऊरानीपुर, झाँसी की कृपाछाया और मार्गदर्शन में पहुँचाया। लोक और समाज व्यवस्था के जीवंत और ज्वलंत विषय ''वर्णाश्रम व्यवस्था'' पर परमपूज्यनीय गुरु जी की अप्रतिम गवेषणात्मक दृष्टि और चिन्तन ने मुझे भाव विह्वल और आश्चर्यचकित कर दिया।

मेरी जन्मस्थली बुन्देलखण्ड का ग्राम मुँढ़ारी से निकटतम् एकमात्र बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी, मेरी मातृभूमि है। यहाँ से अपना शोधकार्य करूँगा इस दृढ़संकल्प और उत्कृट भावना ने मेरे''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'' भाव ने जीवन में सर्वाधिक अभिभूत किया।

जिले में संचालित साक्षरता अभियान के गुरुतर और ऐतिहासिक दायित्वों के अहर्निशि निर्वहन में मेरे साथ सतत साधक शासकीय महाराजा कालेज, छतरपुर से निवृत्त पुस्तकालयाध्यक्ष पूजनीय जे0पी0 शुक्ला जी का शोध की रूपरेखा और ग्रंथों की उपलब्धता में अनवरत सहयोग रहा। साक्षरता के पदाधिकारी प्राध्यापकों प्रो0 गोविन्दसिंह, प्रो0 ए0सी0अग्रवाल एवं एस0 के0 त्रिपाठी, गिरजानन्दन चतुर्वेदी का स्तुत्यभाव रहा।

मेरे आध्यात्मिक भक्त डॉ0 जी0डी0 सिंह, डीन, वरकतउल्ला विश्वविद्यालय एवं प्राचार्य शास0 एम0एल0 बी0 कन्या महाविद्यालय, भोपाल जो वाणिज्य शास्त्री एवं शोधाचार्य हैं, मेरे मरणान्त अनुगमन के संकल्प से मेरे स्थानान्तर के कारण ही भोपाल आये हैं। यह शोधकार्य उनके औदार्य, विश्वास, आस्था और प्रेम का द्योतक और परिणाम है। प्रसंगतः वंदनीया भाभी जी भी चिरस्मरणीय हैं।

डॉ0 रहस बिहारी द्विवेदी, विभागाध्यक्ष, संस्कृत, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर, मेरे गुरु जी की अमोघ प्रेरणा और अनुकम्पा से ही

मैं यहाँ तक पहुँच सका। देववाणी के मूर्धन्य कवि डॉ0 भास्कराचार्य त्रिपाठी, संकायाध्यक्ष प्राच्य संस्कृत, विश्वविद्यालय रीवा, का अग्रजभाव शोध में सदैव बुद्धिबल देता रहा। अ0प्र0 सिंह विश्वविद्यालय रीवा के संस्कृत-अध्ययन मण्डल के अध्यक्ष तथा शास0 टी0 आर0 एस0 कॉलेज, रीवा के संस्कृत विभागाध्यक्ष गुरुवर डॉ0 आर0एन0 तिवारी के मार्गदर्शन और आशीर्वाद को कदापि विस्मृत नहीं कर सकता। रीवा संस्कृत विभागों के आत्मिक प्राध्यापकों का स्मरणीय सहयोग रहा। डॉ0 सरला त्रिपाठी, डॉ0 उमाकान्त मिश्र, डॉ0 बालमुकुन्द द्विवेदी, डॉ0 अन्जनी प्रसाद पाण्डेय तथा महाराजा कॉलेज छतरपुर के सहयोगी प्राध्यापक प्रो0 सरस्वती द्विवेदी, प्रो0 शीला नायक चिरस्मरणीय हैं। बापू महाविद्यालय नौगाँव में संस्कृत और संगीत के पथ प्रदर्शक गुरु डॉ0 एम0एल0 एन0 रावत ने सुदीर्घसेवाकाल के बाद भी शोधार्थ शाश्वत् प्रेरणा दी।

शोधचिंतक डॉ0 ज्ञानसिंह गौतम के साथ "भारतीय संस्कृति" विषय पर जबलपुर विश्वविद्यालय में किया गया पुनश्चर्या पाठ्यक्रम ही राजधानी भोपाल आने और शोध संपादन का मूल कारण है। उनकी परमात्मीयता और निस्स्वार्थ सहयोग का मैं आजीवन आभारी रहूँगा। हमीदिया महाविद्यालय भोपाल के डॉ0 जी0पी0 के0 जैन, डॉ0 पी0के0 खरे, डॉ0 सुधीर शर्मा, प्रो0 विनोद कटारे, डॉ0 विजय निगम, डॉ0 एस0आर0 रैदास की चर्चाओं ने सदैव उत्साहित किया। शास0 संस्कृत महाविद्यालय भोपाल के डॉ0 आर0 बी0 त्रिपाठी, डॉ0 एच0 पी0 दीक्षित और प्रो0 ओ0 एस0 जमरा विशेषतः स्मरणीय हैं। बरकत उल्ला विश्वविद्यालय भोपाल, संस्कृत विभागाध्यक्ष परम मित्र डॉ0 सी0पी0 पण्डा ने बैठकों में सदैव उत्प्रेरित किया। शास0 महाविद्यालयों के साधक प्राध्यापक जो अनेक स्थानों की सेवावधि में मेरे साथ रहकर उत्साहित करते रहे, आभार के पात्र हैं।

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, रानी दुर्गावती वि0वि0 जलबपुर, डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, अ0प्र0 सिंह विश्वविद्यालय रीवा और इन्दौर, ग्वालियर, उज्जैन, रायपुर, बिलासपुर एवं बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के पुस्तकालयों के अध्यक्षों एवं संस्कृत प्राध्यापकों के प्रति श्रद्धावनत आभारी हूँ। मेरी कर्मस्थली शासकीय एस0एन0 नूतन कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय भोपाल की राष्ट्रविश्रुत प्राचार्या डॉ0 शशी राय, जिनकी प्रशासकीय शक्ति और सर्वतोन्मुखी एकादेमिक क्षमता ने इस संस्था को मध्य प्रदेश में अग्रगण्य चार

सितारा महाविद्यालयीन गरिमा और महिमा से मण्डित किया। माननीया प्राचार्या के शोधार्थ प्रदान किये अवकाश, अवसर, संरक्षण और संवर्धन के कारण ही मैं कार्य संपादन कर सका, आजीवन आभारी रहूँगा। महाविद्यालय के साहित्यिक और आध्यात्मिक अभिरूचि के धनी बड़े बाबू बी0पी0 तिवारी भी साधुवाद के पात्र हैं। महाविद्यालय परिवार के प्राध्यापिकाओं का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ।

अन्त में मैं मन,वचन और कर्म को एकाकार कर, निर्मल अन्तःकरण से अपने निदेशक और पथ प्रदर्शक डॉ0 त्रिपाठी जी, जो देववाणी के अमर साधक हैं, के चरण कमलों में शतशः नमन करता हूँ। यथार्थः इस शोध प्रबन्ध में जो कुछ भी है, आपकी अविरल, चितंनधारा और सफल निर्देशन की परिणति है। अन्ततः इस पुनीत महायज्ञ में प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष किसी भी रूप में दिशा और लाभ देने वाले सभी आत्मीयों, चिंतकों, साधकों, मनीषियों, मित्रों, स्वजनों, परिजनों और शिष्यों के प्रति आभार ज्ञापित कर आत्म संवेदनायें संप्रेषित करता हूँ।

मेरे शोध केन्द्र अग्रसेन महाविद्यालय के प्राचार्य और संपूर्ण परिवार का आभार ज्ञापन अभेद में भेदारोप होगा। इस पवित्र ज्ञानस्थली को तीर्थसंगम मानते हुये, आत्मविभोर हो प्रणाम करता हूँ।

साहित्य शास्त्री अपने सहोदर शिक्षक श्रीपति सहाय तिवारी को नमन करते हुये सपूर्वज पूजित माता-पिता के चरणों में विनत होता हूँ।

क्षमायाचना सहित,

श्रद्धावनत-

बद्रीप्रसाद तिवारी

शोधार्थी

# अनुक्रमणिका

## प्रथम अध्याय

### ( वेद तथा वेदोत्तर कालिक वर्णाश्रम व्यवस्था)



## द्वितीय अध्याय

### ( पुराणों का सामान्य परिचय)



## तृतीय अध्याय

### ( पौराणिक वर्ण व्यवस्था)

# चतुर्थ अध्याय

## ( पौराणिक आश्रम व्यवस्था)

आश्रम शब्द का अभिप्राय एवं संख्या, ब्रह्मचर्य आश्रम, गुरुसेवा, त्याग और तपस्या, गृहस्थाश्रम, अतिथि सेवा, दान वृत्ति, वानप्रस्थाश्रम, गृह त्याग, तपस्या तथा स्वाध्याय, स्वाध्याय तथा अतिथि सेवा, संन्यासाश्रम, विरक्ति का भाव, मुक्ति की इच्छा, संन्यासी का जीवन, संन्यासियों के प्रकार, पौराणिक समाज संरचना, समाज संरचना में आश्रमों की भूमिका, लौकिक तथा पारलौकिक जीवन में आश्रमों का महत्त्व। १-६४

# पंचम अध्याय

## ( वर्णाश्रम व्यवस्था का समेकित स्वरूप एवं निष्कर्ष)

वर्णाश्रम की पूर्व स्थिति, पौराणिक वर्ण व्यवस्था का समेकित स्वरूप, आश्रम व्यवस्था का समेकित स्वरूप, वर्णाश्रम व्यवस्था का विकास, सामाजिक संगठन और वर्णाश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था और जातियाँ, वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनः स्थापना की सम्भावनाएँ, समीक्षा एवम् निष्कर्ष। १-२३

# सन्दर्भ संकेत सूची

| | | |
|---|---|---|
| १. | आ.ध.सू. | आपस्तम्ब धर्मसूत्र |
| २. | आ.गृ.सू. | आश्वलायन गृह्यसूत्र |
| ३. | आ.गृ. | आश्वलायन गृह्यसूत्र |
| ४. | इ.पु.सा.इ. | इतिहास पुराण साहित्य का इतिहास<br>डॉ० कुँवरलाल 'व्यास शिष्य' |
| ५. | ई.वि.वे | इण्टरकोर्स विटबीन इण्डिया एण्ड द वेस्टर्न वर्ल्ड |
| ६. | ई.द्वा.उ. | ईशादि द्वादशोपनिषद् |
| ७. | उ.स्मृ. | उशना स्मृति |
| ८. | उ.वै.स.सं. | उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति |
| ९. | ऋक् (च) | ऋग्वेद (चतुर्थ खण्ड) |
| १०. | एपि.इ. | एपिग्राफिक इण्डिका |
| ११. | एपि. | एपिग्राफिक इण्डिया |
| १२. | ऐ.ब्रा. | ऐतरेम ब्राह्मण |
| १३. | का.क. | कादम्बरी कथामुखम् |
| १४. | कू.पु. | कूर्म पुराण |
| १५. | कू.पु. | कूर्म पुराणाङ्ग |
| १६. | कौ.उ. | कौषीतकि उपनिषद् |
| १७. | कौ.अ. | कौटिलीय अर्थशास्त्र |
| १८. | ग.पु. | गरुड पुराणाड |
| १९. | गौ.सू. | गौतम धर्मसूत्र |
| २०. | जै. जैमिनि | पूर्व मीमांसा सूत्र महर्षि जैमिनि |
| २१. | छान्दो. | छान्दोग्योपनिषद् |
| २२. | तै.सं. | तैत्तरीय संहिता |
| २३. | दे.मा. | देवी भागवत्त |
| २४. | द ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया | प्रो. हाकिन्स |
| २५. | धर्म अं. | धर्मशास्त्राड कल्याण वर्ष ७० |
| २६. | ध.इ.४ | धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-४ डॉ. काणे |
| २७. | ना.पु. (१) | नारद पुराण |
| २८. | ना.पु. | बृहन्नारदीय पुराण |
| २९. | प.पु. | पद्म पुराण |

| | | |
|---|---|---|
| ३०. | परा.स्मृ. | पराशर स्मृति |
| ३१. | प्र.अ. | प्रश्नोपनिषद् |
| ३२. | पा.गृ.सू. | पारस्कर गृह्यसूत्र |
| ३३. | प्रा.भा.सा.सां. | प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका |
| ३४. | प्रा.भा. | प्राचीन भारत |
| ३५. | प्रा.सा.सां. | प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका |
| ३६. | पु.स. | पुराण समीक्षा |
| ३७. | पु.वि. | पुराण विमर्श |
| ३८. | पु.मी. | पुराण मीमांसा |
| ३९. | पु.पं.-१ | पुराण पत्रिका अंक-१ |
| ४०. | ४.ब्र.पु. | ब्रह्माण्ड पुराण |
| ४१. | ब्र.वै. | ब्रह्मवैवर्त पुराण |
| ४२. | बृ. | बृहदारण्यकोपनिषद् |
| ४३. | बौ.ध.सू. | बौधायन धर्मसूत्र |
| ४४. | गी. | भगवद्गीता |
| ४५. | भा.म.पु. | श्रीमद् भागवत महापुराण |
| ४६. | भा.वै.धा. | भारतीय संस्कृति का विकास-वैदिक धारा |
| ४७. | म.पु. | मत्स्य पुराणाङ्क |
| ४८. | प.भा. | पतञ्जलि महाभाष्य |
| ४९. | म.भा. | महाभारत |
| ५०. | म.पु. | मत्स्य पुराण |
| ५१. | म.स्मृ. | मनु-स्मृति |
| ५२. | मा.पु. | मार्कण्डेय पुराण |
| ५३. | मिता. | मिताक्षरा-याज्ञवल्क्य स्मृति |
| ५४. | मी.प्र. | मीमांसा प्रमेय |
| ५५. | यजु. | यजुर्वेद |
| ५६. | या.स्मृ. | याज्ञवल्क्य स्मृति |
| ५७. | यो.द. | पतञ्जलियोग दर्शन |
| ५८. | लि.पु. | लिंग पुराण |
| ५९. | व्या. स्मृ. | व्यास स्मृति |
| ६०. | व.ध.सू. | वशिष्ठ धर्मसूत्र |
| ६१. | वा.रा. | वाल्मीकि रामायण |
| ६२. | वा.पु. | वायु पुराण |

| | | |
|---|---|---|
| ६३. | वि.ध.सू. | विष्णु धर्मसूत्र |
| ६४. | वि.पु. (१) | विष्णु पुराण भाग-१ |
| ६५. | वै.सं.स. | वैदिक संस्कृति और सभ्यता |
| ६६. | वै.सि.कौ. | वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी |
| ६७. | वै.सा.सं.द. | वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन |
| ६८. | श.ब्रा. | शतपथ ब्राह्मण |
| ६९. | शं. स्मृ. | शंख स्मृति |
| ७०. | श. स्मृ. | शंख स्मृति |
| ७१. | शु.नी. | शुक्र नीतिसार |
| ७२. | स्कन्द पु. | स्कन्द पुराण |
| ७३. | स्टडीज इन द उपपुराणाज | भाग -१ |
| ७४. | स्ट.एपि.पु. | स्टडीज इन द एपिक्स एण्ड पुराणाज |
| ७५. | सं.ग.पुराणाङ्क | संक्षिप्त गरुड पुराण |
| ७६. | सं.श.कौ. | संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुम |
| ७७. | सं.शि.पु. | संक्षिप्त शिव पुराण |
| ७८. | हरि.पु.सां. | हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन |
| ७९. | हि.वि.को. | हिन्दी विश्व कोष |
| ८०. | हि.स. | हिन्दु सभ्यता अनु. |
| ८१. | हि.इ.लि. | ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर प्रथम भाग |
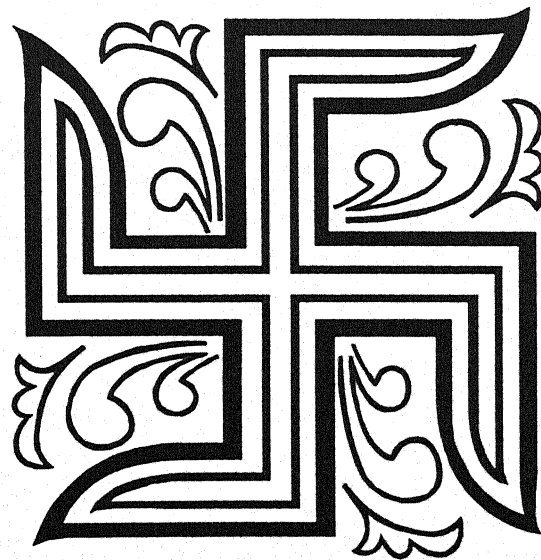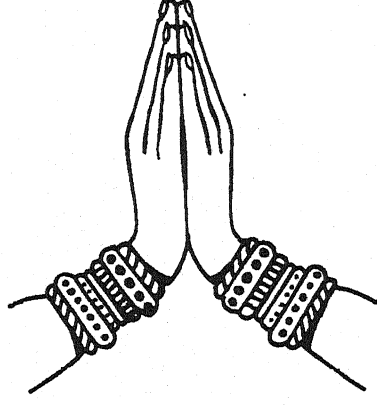
# प्रथम अध्याय

## (वेद तथा वेदोत्तरकालिक वर्णाश्रम व्यवस्था)
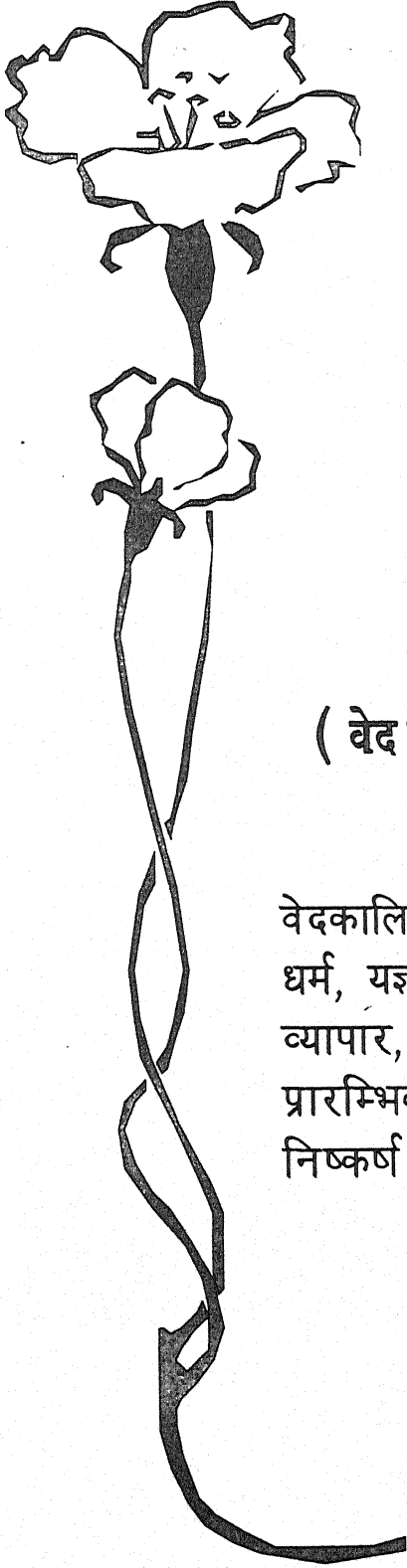
# प्रथम अध्याय

## ( वेद तथा वेदोत्तर कालिक वर्णाश्रम व्यवस्था )

वर्ण व्यवस्था का अभिप्राय, वर्णों की वेदकालिक अवधारणा, उत्तरकालिक संकेत, वर्ण धर्म, यज्ञ, दान, सत्य, रक्षा और राज्य, कृषि तथा व्यापार, सेवा तथा शिल्प, आश्रम तथा उनका प्रारम्भिक संकेत, आश्रमों के कर्तव्य रूप धर्म, निष्कर्ष।
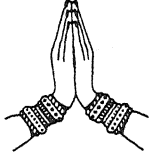
# प्रथम अध्याय

## ( वेद तथा वेदोत्तर कालिक वर्णाश्रम व्यवस्था)

भारतीय समाज के सन्दर्भ में यदि हम कुछ भी प्रामाणिक रूप से जानना चाहते हैं तो हमें सर्वप्रथम वैदिक वाङ्.मय का अवलोकन करना पड़ेगा। वेद इस देश के लिए सामान्य रूप से देव स्तुतियाँ करने वाले अथवा यज्ञों के विधानों का व्यवस्थापन करने वाले ग्रन्थ ही नहीं हैं अपितु ये वे ग्रन्थ हैं जिनके उत्स में समग्र भारतीय परम्परा और विचारधाराएँ छिपी हुई हैं। यही कारण है कि सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में भी जब हम वर्ण और आश्रम की स्थिति का अवलोकन करना चाहेंगे तो वेद और वेदोत्तर साहित्य को देखना ही होगा। वहाँ से जिस रूप में संकेत प्राप्त होंगे, उन्हीं का विस्तार आगे देखा जा सकेगा।

**<u>वर्ण शब्द का अभिप्राय</u>**

संस्कृत व्याकरण में वर्ण शब्द की सिद्धि 'वर्ण' अथवा वर्ण् धातु से की जा सकती है, एक स्थान पर 'वर्ण' धातु के अर्थ में वर्ण वर्णने लिखा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इससे वर्ण शब्द की निष्पत्ति किए जाने पर सम्भवत: यह अर्थ हो सकता है कि जिसके द्वारा समाज के विविध भागों का वर्णन किया जाए, वह वर्ण कहा जावेगा। दूसरे स्थान पर जो वर्ण धातु पढ़ी गई है, उसके लिए लिखा गया है-वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु। इस वर्ण धातु का अर्थ क्रिया, विस्तार, गुण आदि हो सकते हैं। और यदि इसको वर्ण शब्द के मूल में माना जाए तो यह कहा जा सकता है इसका अभिप्राय गुण का प्रकटीकरण हो सकता है। अर्थात् वर्ण शब्द से किसी व्यक्ति या समूह के गुणों को प्रकट किया जा सकता है[२]। बाद में सम्भवत: इसी से वर्णों के गुणों का अभिप्राय लिया गया होगा।

---

१. वै.सि.कौ.,पृ. २६७

२. वही, पृ. २८९

कोशकार जब वर्ण शब्द का अभिप्राय देते हैं तो वे रंगना, सौन्दर्य जैसे अर्थ करने के साथ-साथ मनुष्य समुदाय के चार वर्णों का अभिप्राय भी व्यक्त करते हैं जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सम्मिलित हैं[१]।

इस सन्दर्भ में यदि वर्ण शब्द का वैदिक प्रयोग देखा जाए तो यह शब्द ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त होने के बाद रंग अथवा प्रकाश का ही अर्थ देता है[२]। कहीं-कहीं पर वर्ण शब्द के प्रयोग से काले अथवा गोरे चर्म वाले सामाजिक का अर्थ भी निकलता है[३]।

एक विद्वान् का यह अभिमत है कि प्राचीन समय में दो प्रकार के ही समुदाय थे आर्य और दास। इन्हीं के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग था। आर्य और दास वर्ण में भिन्न-भिन्न थे इसलिए तब वर्ण का अर्थ रंग था, क्योंकि प्रारम्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था[४]। बाद में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग वेद में हुआ और वह ब्रह्म शब्द से प्रयोग में आया और यही ब्राह्मण वर्ग का अर्थ देने लगा[४]।

**वर्णों की वेदकालिक अवधारणा**

वर्णों के प्रादुर्भाव के सन्दर्भ में यदि वेद तथा वेदोत्तर कालिक स्थितियों को देखा जाए तो यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का वही मंत्र अधिक स्मरणीय और उदाहरणीय है जिसमें कहा गया है कि ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य एवं पगों से शूद्र उत्पन्न हुए[५]।

---

१. सं. श.कौ., पृ. १०२१
२. ऋक् १/७३/७, ९/१०५/४, १०/१२४/७
३. यो दासं वर्णमधरं गुहा क:। ऋक् २/१२/४
४. ध.इ.(१),पृ.११०-१११
५. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:।
ऊरूतदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।। ऋक् १०/९०/१२

ऋग्वेद के इस मंत्र में जिसप्रकार से ईश्वर के विविध अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की उत्पत्ति का प्रकार कहा गया है, उसी प्रकार की व्याख्या महर्षि सायणाचार्य ने भी की है[१]। एक अन्य स्थान पर यह संकेत है कि प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, वक्षस्थल एवं बाहु से क्षत्रिय, देह के मध्यभाग से वैश्य एवं पदों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है[२]।

वैदिक सन्दर्भों में अनेक स्थानों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के साथ-साथ दास का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द ब्राह्मण के लिए, क्षत्र शब्द राजन्य के लिए और विश् शब्द वैश्य के लिए तथा दास को सम्मिलित करते हुए 'पंचजना' का प्रयोग हुआ है[३]।

**उत्तरकालिक संकेत**- उपनिषद् परम्परा में तो चारों वर्णों का उल्लेख अनेकशः हुआ है क्योंकि वहां पर उस परम शक्ति ब्रह्म से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, इसका क्रम से वर्णन है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति से किस प्रकार की मैथुनी सृष्टि हुई, इसका विस्तार से वर्णन है। वहाँ पर यह संकेत है कि वह अकेला रमण नहीं कर सका इसलिए उसने अपने को दो भागों में बांट लिया और वही स्त्री तथा पुरुष बनकर रमण करने लगा। बाद में वहाँ पर यह कहा गया कि ब्रह्म रूप उस प्रजापति ने अपने रमणकाल में आवश्यकता के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादिकों को उत्पन्न किया[४]।

---

१. धर्म.अ.,पृ.३५४

२. तै.सं. ७/१/१

३. ऋक् १०/१४१/५, तै.ब्रा.३/९/१४, ऋक् ३/३४/२, ३/३७/९

४. स वै नैव रेमे तस्मादे काकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्।.........
.......ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि............। स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातनि गणश आरव्यायन्ते........। स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति। ई.द्वा.उ.,पृ.२७६-२८२

वेदोत्तरकाल अर्थात् ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का रचनाकाल और उस समय की सामाजिक परिस्थिति इतना संकेत तो करती ही है कि तब ब्राह्मण वर्ण के अनेक विभेदों का प्रचलन हो चुका था। पुरोहित, उपदेशक, राजपुरोहित तथा आचार्य के पद से ब्राह्मण को जाना जाने लगा था[१]। इसी के साथ यह भी संकेत थे कि वही ब्राह्मण समाज में प्रतिष्ठा के अधिकारी होते थे जो ज्ञानी होते थे। विशेषकर ब्रह्मज्ञान का महत्त्व था इसलिए जो ब्रह्म ज्ञानी थे, वे ब्राह्मण समाज में विशेष आदर के पात्र थे[२]। ब्राह्मण की बुद्धि कौशल का ही यह विशेष स्वरूप था कि वे समाज का नेतृत्व करते थे और समाज की विविध समस्याओं के उत्पन्न होने पर उनके मत का मूल्य होता था[३]।

बृहदारण्यकोपनिषद् में ही यह सन्दर्भ दिया गया है कि जब ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ तो उसने क्षत्र अर्थात् क्षत्रिय की रचना की। इसलिए उस युग में क्षत्रियों अर्थात् राजन्यों का बहुत महत्त्व था। वे ही एक प्रकार से समाज का संरक्षण करते थे और समाज के शक्ति सम्पन्न अगुआ होते थे। यहां तक उनकी प्रतिष्ठा का संकेत था कि वे राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण से श्रेष्ठ स्थान पर बैठते थे[४]।

एक स्थान पर तो यह संकेत है कि क्षत्रियों ने यह उद्घोष किया था कि वही ब्रह्म विद्या के आदि प्रणेता हैं। इसलिए आचार्य गण प्राय: उनके यहाँ ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्राप्त करने जाते थे। क्षत्रियों में जनक, अजातशत्रु, जानश्रुति आदि ब्रह्मवादी क्षत्रियों का उल्लेख किया जा सकता है[५]।

---

१. प्रा. भा., पृ. ७१

२. वृ. उ. १/४/११

३. तै. उ. १ /११/४

४. बृ. उ. १/४/११

५. यथेयं न प्राक् त्वन्त: पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्य प्रशासनमभूत। छा. उ. ५/३/७, बृ.उ.६/२/८

विश् अर्थात् वैश्य के लिए भी ऐसे ही संकेत उपनिषद् परम्परा में देखे जा सकते हैं। वहाँ पर कहा गया कि सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में वह ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ, इसलिए उसने विश् की सृष्टि की और वैश्यों को व्यापार कार्य के लिए निर्धारित किया[१]। वैश्य वर्ण का समाज में पर्याप्त सम्मान था और इस वर्ण का सम्मान भी उसके आचरणों के कारण ही था[२]।

शूद्र की उत्पत्ति और उसके महत्त्व का आख्यान भी उपनिषदें उसी रूप में करती हैं जैसे अन्य वर्णों का किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में यह कथन है कि किसी सेवक के अभाव में ब्रह्म सेवा कार्य करने में सक्षम नहीं हुआ इसलिए उसने अपने वैभव से शूद्र वर्ण की रचना की। पूषादेव शूद्रों से इसलिए सम्बद्ध हैं क्योंकि यह सभी का पोषण करते हैं[३]। इसका अभिप्राय यह हुआ कि शूद्र अपनी सेवा से समाज की सेवा ही करता है और यही उसके श्रम की सार्थकता है। शूद्रों में भी अनेक उपनाम प्रचलित हुए थे जो सम्भवत: उनके विशेष-विशेष कर्मों से सम्बन्धित थे। इनमें रथकार, सेनानी और दास आदि की गणना थी[४]। चाण्डाल को भी शूद्र ही कहा गया है। एक विशेष उदाहरण इस सन्दर्भ का यह देखा जा सकता है जिसमें शूद्र के द्वारा ब्रह्म विद्या का उपदेश किया गया। रैक्व का वर्ण शूद्र ही था। उसने राजा जानश्रुति को संवर्ग विद्या का उपदेश किया था[५]। संवर्ग विद्या ब्रह्म विद्या ही थी जिसमें सृष्टि के मूल तत्त्व और उसकी शक्ति का आख्यान था जिसे वायु की शक्ति के द्वारा कहा गया था।

---

१. स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रूद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरूत इति। इ.द्वा.उ.,पृ. २८१

२. छा.उ., ५/१०/७

३. बृ.उ. १/४/१३

४. प्रा.भा.,पृ. ७१

५. तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विवति तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्त्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं। दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ।। ई.द्वा.उ., पृ. १७१

## वर्ण धर्म

प्राचीन भारतीय विचार परम्परा में धर्म की व्याख्या बहुत विस्तृत और बहु आयामी है। धर्म को धारण करने के अर्थ में स्वीकार करने के साथ इसे आचार और कर्तव्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। वैदिककाल से ही, जब वर्णों की पूरी प्रतिष्ठा नहीं हो सकी थी, और वर्णों का प्रारम्भिक काल ही था, तभी से संकेत रूप में वर्णों के लिए कर्तव्य रूप में धर्मों का कथन किया गया है। ब्राह्मण जिसका पूरा जीवन तपोमय होता था, वह अपने ज्ञान से समाज को शिक्षित करना अपना धर्म मानता था। यही कारण है कि अध्ययन और अध्यापन को आनन्द का हेतु माना जाता था और उसी से व्यक्ति के लिए मन की शान्ति मिलती थी। तब, ब्राह्मण सर्वप्रथम अपने बालक को ही शिक्षा देकर अपने कर्तव्य का निर्वाह करता था। श्वेतकेतु आरूणेय की कथा ऐसा ही संकेत करती है जिसमें वे पहले अपने पिता से ही वेदों की शिक्षा प्राप्त करते हैं[२]। इसी प्रकार से पौरोहित्य कर्म भी ब्राह्मणों के लिए ही विहित था और ब्राह्मण ही यह कर्म करके यज्ञ भी सम्पादित कर सकता था। ब्राह्मण की कर्म श्रेष्ठता से ही यह कहा गया है कि परोक्ष और प्रत्यक्ष देवता ब्राह्मण ही लोकों को धारण करते हैं। ब्राह्मणों की प्रसन्नता से देवता आकाश में निवास करते हैं। ब्राह्मण के द्वारा कहा गया वाक्य कभी मिथ्या नहीं होता[३]।

इस सन्दर्भ में यहाँ पर यही कहना संगत हो सकता है कि वेद और उपनिषद् परम्परा में चारों वर्णों के संकेत तो प्राप्त होते हैं किन्तु उनके कर्तव्यों का कथन विस्तार से वहां पर प्राप्त नहीं होता है। ब्राह्मण के लिए सत्य का आश्रय और ज्ञान का विस्तार ही प्रथम कर्म था, जिसे उसका धर्म भी कहा जा सकता था।

---

१. श.ब्रा. ११/५/७/१

२. छान्दो. ५/३/१, ६/१/१-२

३. देवा परोक्षदेवा: प्रत्यक्षदेवा ब्राह्मणा देवा ब्राह्मणा:। ब्राह्मणै र्लोका धार्यन्ते। ब्राह्मणानां प्रसादेन दिवि तिष्ठन्ति देवता:। ब्राह्मणाभिहितं वाक्यं न मिथ्या जायतेक्वचित्। तै.सं. १/७/३/१

वैदिक कालीन परम्परा में यज्ञ का महत्त्व सर्वाधिक था। एक प्रकार से तो यह कहा जा सकता है कि तब वैदिक संस्कृति यज्ञ संस्कृति ही थी। तब प्रकृति के रूप में विविध देवताओं की कल्पना की गई थी, जिसमें द्यौः, वरुण, इन्द्र, उषस्, सविता, मरुत आदि परिगणित थे। कुछ देवगण इस रूप में परिकल्पित थे जिनका महत्त्व मनुष्य के जीवन में गृहस्थ के लिए आवश्यक होता था। इसमें अग्नि को प्रथम रूप से गिना जा सकता है। ऋग्वेदीय परम्परा में यह दिखाई देता है कि इन देवताओं की पूजा करके और इनको प्रसन्न करके ही व्यक्ति अपने लिए कुछ पा सकता था, इसलिए इन्हें प्रसन्न करने के निमित्त वह यज्ञादि कर्म करता था। इसी क्रम में जब यज्ञीय कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ तो इसके विधान के लिए विभिन्न ऋत्विजों का विकास हुआ। जैसे कि होता मन्त्र पाठ के लिए, अध्वर्यु कर्म काण्ड के लिए और उद्गाता सामगान के लिए। यद्यपि अर्थसाध्य यज्ञ के सम्पादन में धनिक वर्ग ही सक्षम था किन्तु कर्मकाण्ड के सम्पादन के लिए तपस्वी, ऋषि और ब्राह्मण ही अपेक्षित होते थे।

यज्ञ की इसी स्थिति का महत्त्व तब दृष्टिगत होता है जब पुरुष सूक्त में सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया में यह कहा जाता है कि उस एकात्मक पुरुष ने स्वयम् को होता, हवन सामग्री बनाकर ऋतुओं के रूप में घृत, हवि, ईंधन आदि का सर्जन किया। इस वर्णन से ही यज्ञीय विवेचन का दार्शनिक रूप प्रकट हुआ और तब ईश्वर का एक सत्तात्मक स्थिति का संकेत भी होने लगा[१]।

---

१. हि.स., पृ.१०६

वैदिक वाड्.मय में विशेषत: वेदों में यज्ञ के विविध रूपों को सहजता से देखा जा सकता है और यह समझा जा सकता है कि तब के समाज में सभीके लिए यज्ञ ही जीवन था[१]। कुछ ऐसे यज्ञ थे जिनका विधान ब्राह्मणों के कर्तव्य रूप में कहा गया था और कुछ यज्ञ ऐसे थे जिनका सम्पादन अर्थवान् ही कर सकता था। जो यज्ञ विशाल स्तर पर आयोजित होते थे और जिनमें अर्थ की आवश्यकता अधिक होती थी, उसका सम्पादन राजा अथवा धनी वर्ग ही करता था। एक स्थान पर इसीतरह का एक संकेत है जिसमें राजा अपने दानपत्र में यह लिखता है कि ब्राह्मण इस दान से बलि और चरु देगा। इससे वह अग्निहोत्र भी करेगा[२]।

ऋग्वेद में यज्ञ के सन्दर्भ में अग्नियों की चर्चा की गई है। वहाँ पर यह कहा गया है कि मनुष्य तीन स्थानों पर अग्नि प्रज्जवलित करते हैं[३]। इसी तरह तीन बार प्रात:, मध्यान्ह और सायं सोम रस निकालने का भी संकेत है जो सम्भवत: सोमयज्ञ के लिए आवश्यक है[४]। एक स्थान पर यह संकेत है कि सभी दिनों में यज्ञ के द्वारा अग्नि को तीन बार भोजन मिलता है[५]।

इसी प्रकार से यज्ञों में पुराहितों और ऋत्विजों की नियुक्ति का भी संकेत किया गया है। जैसे किसी यज्ञ में सोलह पुरोहितों के कार्य करने का विधान है। इनके नाम थे, होता, अध्वर्यु, अग्निमिन्ध, शंस्ता, सुविप्र, उद्गाता आदि[६]। ये सभी तपस्वी, ब्राह्मण और वेदपाठी ही होते थे क्योंकि इन्हीं के द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ सम्पादित कराना सम्भव हो सकता था। साथ ही यह भी संकेत है कि पुरोहित का कार्य ब्राह्मण ही कर सकता है[७]।

---

१. ऋक् १०/९०/१६
२. एपि.इ.,पृ.२९१
३. ऋक् १/१५/४
६. वही १/१६२/२५; २/४३/२
४. वही ३/२८/१
६. जै.१२/४/४२-४७
५. वही ३/५२/५-६

जहाँ तक औपनिषदिक परम्परा का प्रश्न है तो उस समय में यद्यपि यज्ञों के उस स्वरूप का दर्शन तो नहीं होता किन्तु उस परम्परा का एक विशेष रूप अवश्य देखने को मिला जो उसका दार्शनिक स्वरूप था। तब जो भी यज्ञ हो रहे थे उनकी आध्यात्मिक व्याख्या हो रही थी और इस रूप में यज्ञों का विधान केवल इसलिए नहीं हो रहा था कि उनके माध्यम से देवताओं को प्रसन्नकर मनोवांछित फल प्राप्त किए जाए, अपितु उनकी व्याख्या सृष्टि और सृष्टि-तत्वों के समझने के लिए भी होने लगी थी। उपनिषद् काल में यज्ञों का विस्तार इस रूप में देखने को मिलता है क्योंकि तब बड़े-बड़े यज्ञ सम्पादित किए जाते थे। प्रजापति ने स्वयम् ही एक विशाल यज्ञ के द्वारा यजन करने की कामना की थी। यज्ञ का सम्बन्ध दक्षिणा से था और यज्ञ दक्षिणा में प्रतिष्ठित थी। दक्षिणा श्रद्धापूर्वक दी जाती थी। चक्र के पुत्र उषस्ति का आख्यान इस अर्थ में उदाहरणीय है क्योंकि तब यज्ञ कराने के लिए योग्य आचार्य की ही आवश्यकता होती थी। इसीलिए उषस्त जब अपनी दरिद्र अवस्था में राजा कुरु के यहाँ गया तब उसने उसके यज्ञ में कहा कि जो देवता की भक्ति का अनुगम जाने बिना इस कर्म को करेगा, उसका मस्तक गिर जावेगा। अर्थात् वही यज्ञादि कर्म करेगा जो विधिपूर्वक उसे कराने में सक्षम होगा[१]।

प्रजापति ने जिस यज्ञ को सम्पादित करने की कामना की थी, वह इतना बड़ा यज्ञ था कि प्रजापति उसे पूरी तरह से सम्पादित करने के पूर्व ही थक गया। उसने अपने शरीर से ही अश्वमेध यज्ञ को सम्पादित करने की कामना की और वह स्वयम् अश्वरूप में होकर यज्ञ कर सका जिसे अश्वमेध यज्ञ कहा गया[२]।

एक स्थान पर चारों वर्णों की चर्चा में यह कहा गया है कि ब्रह्म ही मनुष्यों में ब्राह्मण रूप में उद्भुत हुआ। इसलिए ब्राह्मण और अग्नि दोनों ही कर्मफल के हेतु हैं[३]। यह अग्नि ही यज्ञ की हेतु प्रतीत होती है।

---

१. छा.उ. १/१०/८-९
२. बृ. उ. १/२/६७७
३. ई.द्वा.उ.,पृ. २८२

उपनिषद् के कुछ स्थल ऐसे अवश्य संकेत करते हैं जिनमें यह कहा गया प्रतीत होता है कि यज्ञ और ब्राह्मण का सम्बन्ध परम्परा से था और ब्राह्मण ही आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील होते थे। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में यह संकेत है कि विदेह देश में रहने वाले राजा जनक ने एक बहुत बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ से यजन किया। उस यज्ञ में कुरु और पांचाल देशों के बहुत ब्राह्मण एकत्रित हुए। उसमें उस समय विदेहराज जनक को यह जानने की जिज्ञासा हुई कि इसमें से कौन ऐसा ब्राह्मण है जो वक्ता और ज्ञानी है। तब उसने जो प्रश्न किया उसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने जो आत्मरूप का व्याख्यान किया, उसी से वे श्रेष्ठ वक्ता और ब्राह्मण सिद्ध हुए[१]। इससे यह संकेत लिया जा सकता है कि श्रेष्ठ ब्राह्मण और वक्ता वही है जो यज्ञ के सम्पादन के साथ-साथ आत्म ज्ञान से भी मण्डित हो।

औपनिषदिक् यज्ञ विधान में ऋत्विज, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, ब्रह्मा आदि के चयन का विधिपूर्वक वर्णन है। इसमें ब्रह्मा का महत्त्व इसलिए अधिक होता था क्योंकि यह मन के मनन से यज्ञ का संस्कार करता था। यज्ञ की सविधि संपन्नता के लिए यह मौनालम्बन करके यज्ञ को पूर्ण कराता था। ब्रह्मा एक प्रकार से यज्ञ का संरक्षक होता था। इसलिए यह कहा गया है कि किसी भी अनभिज्ञ व्यक्ति को ब्रह्मा न बनावे[२]। इस रूप में हम यह अनुभव कर सकते हैं कि तब की परम्परा में यज्ञों का महत्त्व बहुत अधिक था और उसे सम्पादित कराने वाले प्रायः विद्वान् ब्राह्मण ही होते थे। जो विद्वान्, योग्य अथवा अधिकारी नहीं होता था, वह यज्ञ नहीं करा सकता था।

---

१. जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता वभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव.........। बृ.उ.३/१

२. छा.उ. ४/१७/१०

## दान

दान का महत्त्व भी प्राचीन समय से ही भारतीय समाज में स्वीकृत है। यद्यपि मनु का यह कथन है कि सतयुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलयुग में दान का महत्त्व है। तथापि उपनिषद् परम्परा और वेद परम्परा में दान श्रेष्ठ कार्य के रूप में प्रतिपादित है किन्तु उपनिषद् दान की महत्ता इस रूप में स्वीकार करती है जिसमें वहाँ पर कहा गया है कि धर्म के आधार स्तम्भ तीन हैं। प्रथम है, यज्ञ अध्ययन और दान। चान्द्रायणादि तप ही द्वितीय धर्म स्कन्ध है और आचार्यकुल में व्रत नियमादि का पालन करते हुए सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देना तृतीय स्कन्ध है[२]।

इसी के अनुरूप वेद परम्परा में भी दान की महत्ता को प्रारम्भ से ही स्वीकार करते हुए यह कहा गया है कि जो गाय का दान करता है, वह स्वर्ग में उच्च स्थान पाता है। जो अश्वदान करता है, वह सूर्यलोक में निवास करता है। जो स्वर्ण का दान करता है, वह देवता होता है और जो वस्त्रों का दान करता है, वह दीर्घ जीवन का भागीदार बनता है[३]।

एक स्थान पर यह सन्दर्भ में आया है कि देव दो प्रकार के होते हैं। एक स्वर्ग के देव और दूसरे पृथिवी के देव अर्थात् ब्राह्मण। यज्ञों में दी गई आहुतियों और दक्षिणा का इन्हीं दो में विभाजन होता है। स्वर्ग के देवताओं को यज्ञ की आहुतियाँ मिलती हैं और भूमि के देवताओं को दक्षिणा प्राप्त होती है[४]। इस संकेत का यह इंगन है कि दान लेना, ब्राह्मण का धर्म था और इसी रूप में वह दान करने के लिए भी प्रतिबद्ध होता था।

एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति अपना सर्वस्वदान कर देता है, वह बहुत बड़ी तपस्या करता है। अर्थात् विशिष्ट दान उसकी विशिष्ट तपस्या है[५]।

---

१. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।। मनु. स्मृ. १/८६

२. त्रयोधर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयं सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृत-त्वमेति।
छा. २/२३/१

३. ऋक् १०/१०७/२,७ ४. श.ब्रा. २/२/१०/६ ५. तै.सं.६/१/६/३

वृहदारण्यकोपनिषद् में एक कथा इस प्रकार से आती हैं जिसमें यह कहा गया है कि एक बार देव, नर और असुरों ने प्रजापति से उपदेश करने के लिए कहा। तब प्रजापति ने उन्हें 'द' अक्षर का उपदेश किया और उनसे पूछा कि क्या वे समझ गए। तब सभी ने अपने-अपने उत्तर में जो उत्तर दिया उसमें मनुष्यों ने कहा कि हमने 'द' से दान देना समझा है। प्रजापति ने उनकी इस समझ को स्वीकार किया और तब यह निश्चय हुआ कि दान करना मनुष्य का धर्म है[1]।

दान केवल सामान्य जन के लिए ही विहित नहीं था और न केवल सामान्य जन ही दान करते थे। तब के समय में राजागण ऐसा दान करते थे जिससे पूरा का पूरा समाज लाभान्वित होता था। छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार का सन्दर्भ आया है जिसमें यह कहा गया है कि राजा जानश्रुति ने संवर्ग विद्या के अध्ययन हेतु रैक्व को एक सहस्त्र गौएँ, एक सोने की सिकड़ी, खच्चरों से युक्त एक रथ, अपनी कन्या पत्नी के रूप में तथा कुछ ग्राम दिए थे[2]। तब रैक्व से उस राजा को संवर्ग विद्या का उपदेश प्राप्त हुआ था। इसका इंगन यह भी हो सकता है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त ऋषि, विद्वान्भी दान ले सकते थे और समाज उन्हें दान देता था।

इस रूप में यही कहना सम्भव है कि प्राचीन परम्परा में प्रारम्भ से ही दान की महत्ता स्वीकृत थी और यह एक विशेष धर्म के रूप में मान्य था।

---

१. अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति।

ई.द्वा.उ.,पृ. ३८७-३८८

२. ते. हाम्युवाच रैक्वेदं सहस्त्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायायं ग्रामो यस्मिन्नासेन्वेव मा भगवः शाधीति। छा.उ.४/२/३४

## सत्य

ऋग्वेद में एक स्थान पर यह कहा गया है कि सत्य तथा असत्य वचन में प्रतियोगिता होती है और सोम सत्य की रक्षा करता है तथा असत्य का हनन करता है[१]। शतपथ ब्राह्मण में तो यह निर्देश दिया गया है कि जब कभी बोले तब सत्य ही बोले और असत्य का कभी भी प्रयोग न करे। जो सत्य बोलता है, वह कभी भी मेध्य नहीं होता[२]।

उपनिषदों में तो सत्य की महिमा का वर्णन बहुत ही विस्तार से किया गया है। वहाँ पर शिक्षक शिष्य की शिक्षा पूरी होने के बाद उसे उपदेश देते हुए यही कहते थे कि तुम सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो[३]। एक सन्दर्भ में यह कहा गया है कि धर्म के अंशों में तप,दान, सरलता, अहिंसा और सत्यभाषण सम्मिलित हैं[४]। इसी प्रकार से एक सन्दर्भ में सत्य और धर्म को एक ही कहा गया है तथा यह कहा गया है कि असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो[५]।

सत्यकाम और जाबाल की कथा और उनके संवाद का संदर्भ उपनिषद् में सत्य प्रयोग का अनूठा उदाहरण है। शिष्य अपने परिचय में माता से कही हुई बात को यथातथ्य रूप में प्रस्तुत कर देता है और आचार्य उसे श्रेष्ठ ब्राह्मण बालक के रूप में स्वीकार करता है[६]। और इससे संकेत् मिलता है सत्य ही ब्राह्मण का परम आचरण है।

---

१. सुविज्ञानं विकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसीपस्पृधाते।
तपोर्यत्सत्यं यतरवृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यसत्।। ऋक् ७/१०४/१२

२. अमेध्यो वै पुरूषो यदनृतं वदति। श.ब्रा. १/१/१/१, १/१/१/५

३. तै.उ. १/११/१

४. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा। छान्दो ३/१७/४

५. बृ.उ. १/४/१४; १/३२२

६. छान्दो ४/४/१-५

## रक्षा और राज्य

ऋग्वेद का पुरुषसूक्त ही एक ऐसा उदाहरण है जो वेद की वर्ण व्यवस्था का आरम्भिक संकेत देता है। और वहां पर जब यह कहा जाता है कि राजन्य भगवान् के बाहुओं से उत्पन्न हुए[१] तब यह स्वाभाविक रूप से भावग्रहण किया जाता है जिसमें रक्षा का दायित्व क्षत्रियों का हो जाता है, क्योंकि बाहु रक्षा में ही प्रयुक्त होते हैं। क्षत्रिय के लिए राजा शब्द का प्रयोग भी यही इंगित करता है कि क्षत्रिय में राज्य की क्षमता थी और वही राज्य की रक्षा के लिए उत्तरदायी था। एक स्थान पर यह सन्दर्भ आया है कि ब्राह्मणों में प्रकाश भरो, हमारे राजाओं में प्रकाश भरो, हमारे शूद्रों में प्रकाश भरो और हमारे वैश्यों को प्रकाश से परिपूर्ण कर दो[२]।

ऋग्वेद में जहाँ पर राजन् शब्द का प्रयोग है वहां पर उससे अर्थ बड़ा, महान् अथवा प्रमुख के रूप में गृहीत है। कहीं-कहीं राजन् का अर्थ राजा भी है। इससे यह संकेत है कि राजा क्षत्रिय होता था और वह सबका अधिपति होकर रक्षा करने वाला था[३]।

क्षत्रिय का राजा होना और प्रजा की रक्षा करना तथा सभी प्रकार से समाज की व्यवस्था करने का संकेत उपनिषदों में भी प्राप्त है। इसके लिए प्रजा राजा की अनुगत रहती थी और राजा सम्पूर्ण प्रजा की इच्छाओं की पूर्ति करना अपना कर्तव्य मानता था[४]।

---

१. ऋक् १०/९०/१२

२. रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसु नस्कृधि।
रूचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।। तै.सं. ५/७/६/३-४

३. ऋक् १०/४२/१०; १०/९७/६
क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्यधिपतिरजनि विशामत्ताजनि.......
ब्राह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि। ऐ.ब्रा. ३८/३९/३

४. प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तममिकामा भवन्ति। छा.उ. ८/१/५

जहाँ तक राजाओं के सम्मान की बात है, वह यह है कि तब के समय में राजा को महत्त्वपूर्ण आदर प्राप्त था। उसके लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता था, उनमें राजा, सम्राट्, महाराज, स्वराट्, भोज आदि सम्बोधन सम्मिलित थे। ऐसे राजाओं के लिए स्थिरता और प्रजा की मंगल कामना में निरत रहने की प्रार्थना की जाती थी। एक स्थान पर ऐसी ही प्रार्थना करते हुए यह कामना की गई है कि हे राजन्! तुम राष्ट्र के अधिपति बनो। तुम इस राष्ट्र के स्वामी बनो। तुम स्थिर मति, अटल विचार और दृढ़ कार्यों के करने वाले बनो। तुम्हारी प्रजा तुम्हारे अनुकूल हो। तुम्हारे राष्ट्र का कभी भी अमंगल न होवे। हे राजन्! तुम पर्वत के समान अटल होकर यहीं पर निवास करो। इस राष्ट्र से तुम किसी प्रकार हटना नहीं। जिसप्रकार इन्द्र अविचल होकर रहते हैं, उसी प्रकार तुम अविचल होकर रहना। तुम अपने बल और पौरुष से अपने राष्ट्र को दृढ़ करो। इसी क्रम में ऋषि यह भी प्रार्थना करते हैं कि हे वरुण! तुम इस राजा के राज्य को दृढ़ करो। इन्द्र और अग्नि देवता भी इस राजा के राज्य को सुदृढ़ बनावें[१]।

---

१. आ त्वाहार्षमत्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविषांपतिः।
विशत्वा सर्वा वा वन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिम्रशत्।।
इहैवेधि भाषज्येष्ठा पर्वत इवा विषापतिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रममुं धारय।।
ध्रुवाधीर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवातः पर्वता इमे।
ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ध्रुवो राजा विशामयम्।। ऋक् (च) पृ. १८८६

तब की यज्ञिय संस्कृति में राजा और यज्ञ के सम्बन्ध में विचार करते हुए विवरण है कि वैदिक ऋषि यज्ञ भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हे राजन्! जो हमारे विपरीत पक्ष वाले हैं और जो हमारी हिंसा की अभिलाषा कर शत्रुओं की सेना तैयार कर आते हैं उन सबको पराजित कर तुम दूर भगाओ। हे राजन्! तुमने सविता देवता की अनुकूलता प्राप्त की है, सोम भी तुम्हारे अनुकूल हुए हैं, सभी प्राणियों ने तुम्हारे प्रति अनुकूलता प्रकट की है। इसलिए तुम सबके प्रिय हुए हो। राजा इसके उत्तर में अपना सामर्थ्य प्रकट करता है और कहता है कि विपक्षियों का निवारण कर मैं अधिपति हो गया हूँ। इस राष्ट्र के सभी प्राणियों और राज्याधिकारियों का मैं स्वामी बना हूँ[१]।

वैदिक ऋषियों ने अपनी प्रार्थना में सदा-सदा प्रजा की समृद्धि के साथ-साथ राष्ट्र की समुन्नति की कामना की है। वे ऐसे राष्ट्र की कल्पना करते हैं जिसमें ब्राह्मण ज्ञान सम्पन्न होवें। क्षत्रिय शूरवीर हों। शस्त्रों के संचालन में वे कुशल होवें। वे राजा शस्त्र और शास्त्र विद्या में कुशल होने के साथ-साथ सभी प्रकार की कलाओं में भी पारंगत होवें। उनमें इस प्रकार की क्षमता हो कि वे अपने शत्रुओं का नाशकर सकें तथा महारथी होवें। राष्ट्र के सन्दर्भ में उनकी कामना है कि उनके राष्ट्र में गौंए दूध देने वाली हों, वृषभ बलवान् हों, अश्व तेजी से दौड़ने वाले हों, स्त्रियाँ सब गुण सम्पन्न हों, रथ पर चलने वाले योद्धाओं में विजय प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो। युवक निर्भीक हों और उनमें सुशीलता होवे। जब जैसी आवश्यकता हो, तब वैसी ही वर्षा मेघ करें। इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती रहे और प्राप्त वस्तुएँ सदा सुरक्षित रहें[२]।

---

१. ऋक् (च.), पृ. १८८७

२. सत्यं वृहत् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूमिः त्विषिं राष्ट्रे दधातूत्तमे।। अथर्व (२), पृ. ५३३-५३४

उपनिषदें भी राजा और राज्य के विषय में अपने विचार व्यक्त करती हैं। वहाँ पर यह देखा जा सकता है कि राजा के लिए, जो क्षत्रिय कुलोद्भव है, सम्राट् शब्द का व्यवहार किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि विदेह राज विस्तृत क्षेत्र के राजा थे। एक अन्य सन्दर्भ में यह संकेत किया गया है कि साम्राज्य प्राप्ति के लिए विश्व देव साम का सम्पादन करना चाहिए[२]।

उपनिषद्काल में विद्या और शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यज्ञ के अवसरों पर जो विद्वत सम्मेलन होते थे, राजा उनमें विद्वानों का सम्मान करता था। जो ब्राह्मण श्रेष्ठ ज्ञान से सम्पन्न होते थे, राजा उन्हें ग्राम, गौएँ आदि प्रदान करते थे और उनका सम्मान करते थे[३]।

राजा के जीवन का उद्देश्य तब यही था कि प्रजा सन्तुष्ट रहे और सभी का परम कल्याण होवे। तब के क्षत्रिय राजाओं ने ब्रह्म के संयोग से इस प्रकार के समाज का निर्माण करने का प्रयत्न किया था। जिसमें छल, कपट, दीनता, अज्ञान, व्यभिचार, अकर्मण्यता आदि न होवे। यही कारण है कि अजातशत्रु ने जनक के यश पर विजय कामना से दानादि का अधिक व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया था और चाहा था कि वह राजा जनक से अधिक यशस्वी बन जावे[४]।

राजा केवल विशिष्ट पद प्राप्त करके प्रजा से दूर नहीं होता था। वह सदा यह कामना करता था कि प्रजा के साथ उसका निकट का सम्बन्ध बना रहे। साथ ही राज्ञा ज्ञान के लिए भी निरन्तर प्रयत्नशील रहता था। राजा अश्वपति के पास जब कुछ जिज्ञासु वैश्वानर के ज्ञान के लिए गए तो उसने अपनी प्रज्ञा के विषय में कहा कि मेरे यहाँ कोई भी चोर, कृपण, मद्यपायी, परस्त्री लम्पट और दुराचारिणी स्त्री नहीं है। मैं स्वयम् यज्ञकर्ता हूँ[५]। और इन सभी सन्दर्भों का इंगन यही है कि क्षत्रिय राजा राज्य की व्यवस्था में प्रभावी भूमिका का निर्वाह करते थे। यद्यपि रैक्व के आख्यान से यह संकेत है कि क्षत्रिय से इतर भी राजा हो सकते थे।

---

१. बृह ४/१/१

२. छान्दो. २/२४/१३

३. वही ४/२/५; बृह. ४/२/४

४. स हो वाचाजातशत्रु: सहस्त्रमैतस्यां वाचि दद्यो जनको जनक इति नै जनाधावन्ति। बृह. २/१/१; कौ. उ. ४/१

५. छान्दो. ५/११/६

## कृषि तथा व्यापार

वेद साहित्य में ऐसे संकेत हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि पशुओं की कामना करने वाले वैश्य होते थे और वे भी यज्ञ करते थे। जब देवगण पराजित हो गए और असहाय हो गए तो वे वैश्य की दशा को प्राप्त हुए[१]। इसी प्रकार से व्यापार करने वाले के लिए वणिक् शब्द का प्रयोग भी वहाँ पर हुआ है[२]।

वैदिक कालिक जीवन में कृषि और व्यापार दोनों का प्रचलन था, यद्यपि व्यापार का उतना विकसित स्वरूप नहीं हो सका जितना कृषि का हुआ था। कृषि के मूल में पशु-सम्पत्ति होती थी और वृषभों के द्वारा कृषि कार्य किया जाता था। बैल हल चलाते थे और शकट खींचते थे। घोड़े रथ खींचने और दौड़ में काम आते थे। श्वान् रक्षा में रहते थे। इस प्रकार से इन सभी पशुओं के साथ-साथ अन्य पशुओं का पालन भी होता था[३]।

जिस कृषि क्षेत्र को हल से जोता जाता था वह उर्वरा भूमि होती थी। एक हल में छह, आठ और बारह तक बैल जोते जाते थे[४]। कृषि कार्य को जो कीड़े अथवा पक्षी आदि हानि पहुँचाते हैं और अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से जो हानि पहुँचती है, उसका भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है[५]।

कृषि से जो अन्न उपजता था उसे यव और धान्य के नाम से जाना जाता था। एक उपनिषद् में दस तरह के धान्यों का उल्लेख किया गया है। ये हैं- व्रीहि, यव, तिल, उड़द, गेहूँ, मसूर, चना, प्रियंगु, खल्व ओर खलकुल[६]।

---

१. पशुकामः खलु वैश्वो यजते। तै.सं. २/५/१०/२
२. ऋक् १/१२२/११
३. वही ४/१५/६; ८/२२/२
४. वही ८/६/४८;१०/१०१/४
५. वही १०/६८/१
६. बृ. उ. ६/३/१३

उपनिषदों में यह कहा गया है कि ब्रह्म जब विभूति युक्त कर्म करने में असमर्थ हुआ, तब उसने वैश्य को उत्पन्न किया। इस सन्दर्भ पर आचार्य शंकर ने जो अभिमत व्यक्त किया है उसके अनुसार उन्होंने लिखा है कि ब्रह्म ने कर्म के साधनभूत वित्तोपार्जन हेतु वैश्यों की रचना की। वैश्यों को गणरूप में कहते हैं। उनका मत है कि अनेक मिलकर ही वित्तोपार्जन कर सकते हैं इसलिए वैश्यों को गण कहा गया है। गण अनेकता का सूचक है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म ने वित्तोपार्जन करने वाले वर्ग के लिए 'विश' की सृष्टि की जिसका कार्य व्यापार द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था[१]।

कृषि और व्यापार ही किसी समाज की समुन्नति में मूलरूप से हेतु होते हैं। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो वेद और वेदोत्तर काल में कृषि का पर्याप्त विकास हो चुका था और व्यापार का स्वरूप भी कम समुन्नत नहीं था। उपनिषद् काल में तो इस प्रकार के संकेत स्पष्ट थे कि उस समय कृषि का कार्य अधिकतर वैश्यों के हाथ में था और वे ही इसमें अन्यों को अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय से इतर जनों को नियोजित करते थे[२]।

इस रूप में संकेत के अभिप्राय से यही कहा जा सकता है कि तब के समाज में वैश्य वर्ण का कार्य कृषि और व्यापार था और कृषि के विकास के साथ-साथ व्यापार का भी प्रचलन था। इन दोनों से समाज सम्पन्न हो रहा था।

---

१. स नैव व्यभवत स विशमसृजत यान्येतानि देव जातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रूद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। बृ.उ.१/४/११
स नैव व्यभवत, कर्मणे, ब्रह्म तथा न व्यभवत, वित्तोपार्जयितु (भावात्) स विशमसृजत कर्मसाधनवित्तोपार्जनाय.........। वही शां.भा.१/४/११

२. उ.वै.स.सं.,पृ. ४८

## सेवा तथा शिल्प

वैदिक साहित्य में जिस वर्ण व्यवस्था का संकेत है उसमें बहुत कम स्थानों पर स्पष्ट रूप से चार वर्णों का कथन किया गया है। इसमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में से जो प्रथम तीन अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों से इतर हैं इनमें अनेक जातियों का कथन किया है जो शूद्र वर्ण के अन्तर्गत आती हैं। ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि इनके नाम इनके कर्म के आधार पर रखे गए हैं। जैसे १. बढ़ई, २. लोहार, ३. चमार, ४. कुलाल आदि। ये जातियाँ या तो वंशानुगत मानी जा सकती हैं अथवा इनका व्यवहार इनके कर्म से माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें निषाद, ५. मागध और ६. सूत आदि का उल्लेख है तथा इनको त्रिवर्ण से भिन्न रूप में कहा गया है। चारों वर्णों के अतिरिक्त दास शब्द का प्रयोग भी हुआ है जिसे कुछ विद्वान् पंचम वर्ण के रूप में स्वीकार करते हैं[७]।

बृहदारण्यक उपनिषद् में शूद्र की सृष्टि भी ब्रह्म द्वारा ही कही गई है शूद्र को पूषन कहा गया है जिसका अभिप्राय यह लिखा गया है कि वह अपने श्रम से समाज का पोषण करता है[८]।

वैदिक तथा वेदोत्तर काल की इसी स्थिति का संकेत हमें उन कथनों में मिलता है जिनमें यह कहा गया है कि वैश्य और शूद्र कृषि, वाणिज्य और शिल्प कार्य करें[९]। अथवा यह भी कहा गया है कि शूद्र द्विजों की शुश्रूषा और शिल्प का कार्य करे[१०]। महर्षि मनु ने भी इसी कथन की पुष्टि की है और यह लिखा है कि शूद्र उन सभी कर्मों को करे, जिनके करने से द्विजातियों की सेवा होती है[११]।

---

१. ऋक् ७/३२/२०
२. वही १०/७२/५
३. वही ८/५/३८
४. शु. यजु. १६/२७
५. वही ३०/५
६. वही ३०/६
७. हि.स.,पृ. ९०
८. उ.स.सं.,पृ. ५५
९. पा.स्मृ. २/१९
१०. शं. स्मृ. १/५
११. म.स्मृ. ८/१००

## आश्रम और उनका प्रारम्भिक संकेत

आ उपसर्ग पूर्वक श्रम्‌धातु से धञ्‌ प्रत्यय लगने पर आश्रम शब्द का निर्माण होता है जिसका अर्थ एक स्थान पर द्विज के जीवन की चार अवस्थाओं के रूप में दिया गया है। इन चार अवस्थाओं को वहां पर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थ के रूप में लिखा गया है[१]। एक अन्य स्थान पर आश्रम शब्द से जो अर्थ लिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि श्रेय की कामना वाले जहाँ पहुँचकर श्रममुक्त हो जाते हैं, वह आश्रम है। एक अन्य अर्थ यह भी है कि जिसमें कर्तव्य पालन के लिए पूर्ण परिश्रम किया जाता है, वह आश्रम है[२]।

एक आचार्य ने यह मत दिया है कि आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभक्त किया जाता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थाश्रम के द्वारा व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि सहज में कर लेता है[३]।

वेद वाङ्‌मय में यदि इन आश्रमों की स्थिति का अनुमान करना हो तो यह कहा जा सकता है कि वहाँ पर इन चारों आश्रमों की सूचना येन-केन रूप में दिखाई देती है। जैसे कि ऋग्वेद में ब्रह्मचारी के विचरण की चर्चा है। और यह कहा गया है कि आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता है। ब्रह्मचर्यव्रत के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है[४]।

इसी तरह से वेद गृहस्थाश्रम का संकेत भी स्पष्ट रूप से करते हैं। एक स्थान पर यह स्पष्टता के साथ कहा गया है कि गृहस्थ

---

१. सं. श.कौ., पृ. २०६
२. हि.वि.को.,पृ.ख.,पृ.४२७ पर उद्धृत
३. वै.सा.सं.द.,पृ. १७१
४. ऋक्‌ १०/१०९/५; अथर्व ११/५/१८; अथर्व ११/५/१९

के मूल में पति और पत्नी हैं, इसलिए पति और पत्नी को मिलकर रहना चाहिए[1]। इसी तरह से एक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि इन्द्र स्त्री को सौभाग्यवती बनावें। स्त्री पुत्रवती बने[2]। इसी तरह से एक स्थान पर उत्तम वधू की प्रशंसा की गई है और यह कहा गया है कि जो वधू उत्तम आचरण की होती है, वह अपने आचरण से सास-ससुर, ननद, जेठ और देवर आदि पर अपना आधिपत्य जमा लेती है।

वानप्रस्थाश्रम के सम्बन्ध में यह कहना ठीक होगा कि तब सम्भवत: यह शब्द प्रचनल में नहीं आया था और इसके लिए वैखानस शब्द का प्रयोग होता था। जैसा कि अनेक इतिहास लेखक विद्वान् स्वीकार करते हैं। वैखानस का प्रयोग जिन मन्त्रों में ऋग्वेद में किया गया है, उसका संकेत श्री पी.वी. काणे महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में किया है[4]।

संन्यासाश्रम के संबंध में भी ऋग्वेदादि वेदों में यत् किंचित् इसी प्रकार की स्थिति है। वहां पर भी संन्यास शब्द का स्पष्ट संकेत न कर मुनि शब्द का संकेत है। मुनि वे थे जो वायु का भक्षण कर पीले वस्त्र धारण करते थे। वे आकाश में उड़ने की शक्ति रखते थे और सभी कुछ देख सकते थे[5]।

---

१. ऋक् १०/८५/२३
२. वही १०/८५/२५
३. सम्राजी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राजी देवुषु अधि।। ऋक् १०/८५/४६
४. ध.इ., पृ. ४८२
५. ऋक् १०/१३६/३; १०/१३६/४

## औपनिषदिक संकेत

उपनिषद् कालिक अवस्था की यह स्थिति है कि उस समय तक भी बहुत स्पष्ट रूप से चार आश्रमों का बंटवारा दिखाई नहीं देता। जो सन्दर्भ उपनिषदों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हैं उनके अनुसार यह कहना सम्भव हो सकता है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ की चर्चा स्पष्ट रूप से हुई लगती है। इसमें अर्थ करने वाले संन्यास अर्थात् परिव्राजक का अर्थ भी निकाल लेते हैं और इसी से चारों आश्रमों का कथन समझ लेते हैं। मुण्डकोपनिषद् में अवश्य ही चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम का कथन किया गया है। वहां पर कहा गया है कि ब्रह्म निष्ठ अमरण धर्मा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं[२]।

इन आश्रमों में से ब्रह्मचर्याश्रम वेदों का अध्ययन करने के लिए होता था। आचार्य शिष्य को ब्रह्मचर्यवास हेतु आदेश प्रदान करते थे[३]। इससे जहां ब्रह्मचारी की बुद्धि का विकास होता था, वही उसका जीवन परिपुष्ट होकर, ज्ञान प्राप्तकर सामाजिक कार्य के लिए सक्षम हो जाता था।

---

१. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचायचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसायन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमिति। छा.उ. २/२३/१

२. वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।। इ.द्वा.उ.,पृ.६८

३. प्र. उ. १/१

उपनिषद् परम्परा में गृहस्थ धर्म का कथन स्पष्ट रूप से है। उस समय उपदेशक जो समाज को दिशा देने के लिए प्रयत्नशील होते थे, प्राय: गृहस्थ ही थे। याज्ञवल्क्य का अपनी दोनों पत्नियों को उपदेश करना इसी का एक उदाहरण है[१]। तैत्तरीय उपनिषद् में जब विद्या की समाप्ति के बाद ब्रह्मचारी को उपदेश दिया गया, तब यही कहा गया कि वह और सभी कर्तव्यों का पालन करते हुए भी प्रजातन्तु का उच्छेद न होने दे। अर्थात् गृहस्थ बनकर परिवार चलावे[२]।

वानप्रस्थाश्रम में अरण्यवास की परम्परा और उस परम्परा में ज्ञान प्राप्ति की ओर उन्मुख होने का संकेत उपनिषदें देती हैं। एक स्थान पर यह कहा गया है कि जिसे अख्यान कहा गया है वह ब्रह्मचर्य ही है- इससे अरण्य में निवास करने का संकेत है[३]। इसी प्रकार का एक सन्दर्भ और यह कहता है कि जो शान्त और ज्ञान सम्पन्न वन में रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए स्वधर्माचरण रूप तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे उत्तरायण मार्ग से अमृत लोक को प्राप्त करते हैं[४]।

इसी तरह उपनिषदों में संन्यासी के लिए भी संकेत हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि अनित्यभावी संसार पदार्थों से नित्य परमात्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए लोक चिन्ता छोड़कर मोक्षाभिलाषी ज्ञान प्राप्त करे[५]। एक अन्य सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य ने कुषीतक के पुत्र कहोल से कहा कि जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह और जरा से पार है, उसको जान विद्वान् सभी प्रकार की एषणाओं से मुक्त हो जाता है[६]।

---

१. बृ.उ. २/३/१
२. तै.उ. १/११/१
३. ई.द्वा.उ.,पृ. २५०
४. वही, पृ. ५८
५. मु.उ. २/२/१२
६. बृह. ३/५/१

## आश्रमों के कर्तव्य रूप धर्म

धर्म शब्द की परवर्ती व्याख्या पर यदि ध्यान दिया जाए तो आरम्भ में अर्थात् वेदों और उपनिषदों में इसका निश्चयात्मक अर्थ करना कठिन कार्य है। प्रारम्भ में धर्म शब्द का प्रयोग सम्भवत: धार्मिक क्रियाओं के लिए प्रतीत होता है[१]। कहीं-कहीं धर्म शब्द का अर्थ निश्चित नियम और व्यवस्था सम्बन्धी भी किया जा सकता है[२]।

उपनिषद् में, जहाँ धर्म के तीन लक्षण करते हुए यज्ञ, अध्ययन तथा दान, तपस्या अर्थात् तापस भाव और ब्रह्म चारित्व कहा गया है, वहाँ धर्म से कर्तव्य का बोध होना माना जा सकता है। यज्ञ, अध्ययन और दान गृहस्थ के लिए कर्तव्य रूप कहे जा सकते हैं, तपस्या तपस्वी के लिए कर्तव्य रूप ही है और ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन भी उसका कर्तव्य रूप धर्म ही है[३]।

इसी प्रकार से उपनिषद् में जब शिक्षा पूर्ण करने पर, ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश की अनुमति दी जाती थी तब उसका समावर्तन संस्कार करते हुए स्पष्ट कहा जाता था कि धर्म का आचरण करो, सत्य बोलो और जो हमारे सुचरित हैं उनका ही अनुकरण करो[४]।

यही प्रारम्भ संकेत धर्म के रूप में कर्तव्य के वाचक हुए और बाद में वर्णों के लिए जिन कर्तव्यों का कथन किया गया, उन्हें उनके धर्म भी कहा जा सकता है।

---

१. ऋक् १/२२/१८; ७/४३/२४
२. आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देव: कृणुते स्वायधर्मणे। ऋक् ४/५३/३ धावा पृथिवी वरुणस्य धर्माणा विष्कम्भिते अजरे भूरिरेतसा। वही ६/७०/१
३. छान्दो २/२३/१
४. तै.उ. १/११

आश्रमों के प्रारम्भिक संकेत देते समय यह कहा जा चुका है कि वेदों में यद्यपि आश्रमों के संकेत हैं किन्तु पूरी आश्रम व्यवस्था व्यवस्थित नहीं है। इसी तरह से उपनिषदों में भी स्पष्ट रूप से चारों आश्रमों का बहुत अधिक वर्णन नहीं है। जो है, वह कहीं-कहीं स्पष्ट तो कहीं पर संकेत रूप में ही ग्रहणीय है।

जहाँ तक चारों आश्रमों के प्रारम्भिक कर्तव्यों का संकेत है तो इस सन्दर्भ में भी यही कहा जा सकता कि हम ब्रह्मचारी, गृहस्थ और किसी रूप में मुनि के कर्तव्यों का संकेत पा सकते हैं। जैसे कि एक स्थान पर अध्ययन करने वाले विद्यार्थी-जीवन की प्रशंसा की गई है और कहा गया है कि सायंकाल सन्ध्या में अग्नि में समिधा डाले[१]। इसका अर्थ यह हुआ कि अध्ययन और सन्ध्या वंदनादि ब्रह्मचारी के लिए कर्तव्य हैं।

गृहस्थ धर्म के संकेत भी वेद में हैं। उदाहरणार्थ विवाह विधि से पत्नी प्राप्त करना और पालन-पोषण के लिए अपनी सन्तान को अपना धन पिता को देना चाहिए[२]। उपनिषदें भी इसी प्रकार से संकेत करती हैं और अध्ययन ब्रह्मचारी के लिए दम, दया और दानादि के कर्मों का संकेत गृहस्थ के लिए करती हैं। गृहस्थ को भी यह भी कर्तव्य बताती हैं कि वे सन्तति की परम्परा का उच्छेद न होने देवें[३]। इसी प्रकार से उपनिषदें अरण्यवास तथा प्रव्रज्या के कर्तव्यों का भी संकेत करती हैं। इसमें कहा गया है कि अरण्यवासी भिक्षाचरण से अपना जीवन निर्वाह करे[४]। जो अन्तिम अवस्था में प्रव्रजित होवें वे संसार की सभी प्रकार की एषणाओं का त्याग करके अपना जीवन पूर्ण करें[५]।

---

१. ऋक् १०/१०९/५; श.ब्रा. ११/५/४/१८
२. गृम्णामि ते सौभगत्वाय । ऋक् १०/८५/३६; तै.सं. २/५/२/७
३. प्र.उ. १/१; तै.उ.१/११/१
४. मु.उ. १/२/११
५. बृह. उ. ३/५/१

## निष्कर्ष

इस रूप में जिन सन्दर्भों का उल्लेख किया गया है, उनमें हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वेदों और उपनिषदों के समय वर्ण और आश्रम कल्पित तो हो गए थे किन्तु उनकी अवधारणा बहुत अधिक स्पष्ट आकार नहीं ग्रहण कर सकी थी। यह अवश्य कहा जा सकता है कि तब के विचारक समाज को एक व्यवस्था देना चाहते थे और उसी व्यवस्था से वे यह भी संकेतित करना चाहते थे कि सभी जन अपने-अपने वर्णों में रहकर अपने लिए निर्धारित कर्तव्य रूपी धर्म का पालन करें और समाज के नियमों तथा उपनियमों में बंधकर चलें। उनका यह दृष्टिकोण था कि यदि समाज विश्रृङ्खलित हो जाएगा और व्यवस्था के अभाव में न कोई नीति काम करेगी और न ही समाज का कोई व्यक्ति अपने लिए अपना कर्तव्य मानकर कोई काम ही करेगा। इसलिए प्रारम्भिक काल में दी गई वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था और इनके लिए निर्धारित कर्म अवश्य ही समाज को सुसंगठित रखने में समर्थ थे तथा इससे तब समाज एक आदर्श रूप ग्रहण कर सका था।
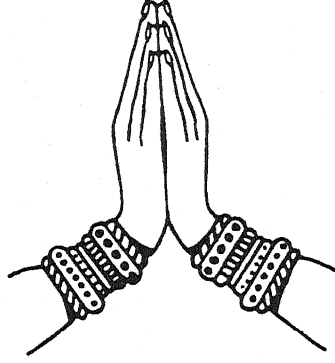
# द्वितीय अध्याय

## (पुराणों का सामान्य परिचय)
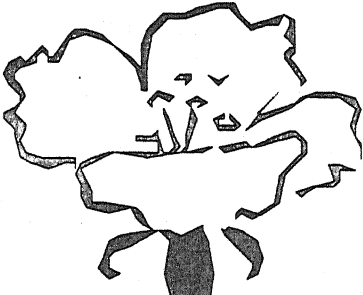
# द्वितीय अध्याय

## ( पुराणों का सामान्य परिचय)

पुराण शब्द का निहितार्थ, पुराण संरचना की पृष्ठ भूमि, पुराणों का रचनाकाल, पुराण रचनाकार, पुराण वक्ता, पुराण संख्या, पुराण वर्गीकरण, पुराण विषय, पुराण संरचना का उद्देश्य, ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, श्रीमद्भागवत, स्कन्ध तथा अध्याय, समय, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, मत्स्य पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण, लिंग पुराण, वराह पुराण, स्कन्ध पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, गरुण पुराण।
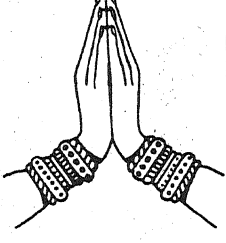
# द्वितीय अध्याय
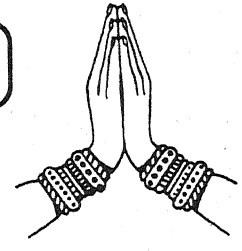
## (पुराणों का सामान्य परिचय)

### पुराण शब्द का निहितार्थ

पुराण भारतीय परम्परा के एक ऐसे विशिष्ट ग्रन्थ हैं जो इस देश की परम्परा और संस्कृति को बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित करते हैं, इन ग्रन्थों के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका विश्लेषण करने पर भी इसका विशेष निहितार्थ दिखाई देने लगता है, इस शब्द का व्याकरणात्मक जो स्वरूप है, वह भी इसके विशेष निहितार्थ को प्रकट करता है। यह पुरा शब्द अव्यय है और णी प्राणे धातु से यह ड प्रत्यय तथा टिलोप करने से सिद्ध होता है। इसका जो समासात्मक भाव है वह 'पुराभव' से है जिसमें पुरा अव्यय के साथ 'सायंचिरं प्राह्वेप्रगे....' सूत्र से ट्यू प्रत्यय होने पर ट्कार की इत्, संज्ञा और लोप होने पर 'यु' का 'अन' हो जाता है तथा णत्व कार्य होकर पुराण शब्द बनता है। इसी प्रकार से 'पूर्व कालेसर्वजरत्पुराण......' इस सूत्र से 'तुट्' प्रत्यय का अभाव होने से यह शब्द बनता है। इस शब्द का प्रयोग नपुसंक लिंग में होने से यह शास्त्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। इसका एक रूप यह भी है जिसमें, पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु' सूत्र के निर्देश से निपातन से यह पुराण शब्द बनता है[१]।

इस शब्द की व्युत्पत्ति और व्यवहार से यह ध्वनित होता है कि जहाँ एक ओर यह शब्द अपने में पुराकालिक प्रवृत्तियों का समावेश किए हुए है, वहीं दूसरी ओर इसमें नवीन प्रवृत्तियों का संकलन भी है। वायु पुराण में पुराण शब्द की व्युत्पत्ति में 'पुराविद्यते' इति पुराणम्' कहकर पुराण की पुराकालिक परम्परा का संकेत किया गया है[२]।

---

१. पु.मी.,पृ.३८

२. वा.पु. १/२०३;म.पु.,पृ. २१९

एक पुराण पद्म पुराण 'पुरा' शब्द का अर्थ परम्परा के रूप में कहता है जिससे यह संकेत मिलता है कि जिस साहित्य में परम्परा का निबन्धन हो, वह साहित्य पुराण साहित्य है[१]। ब्रह्माण्ड पुराण में एक स्थान पर यह संकेत आया है कि जिन ग्रन्थों में यह संकेत किया जाए कि प्राचीन काल में ऐसा हुआ था, वे ग्रन्थ पुराण संज्ञक ग्रन्थ हैं[२]। निरुक्त में आचार्य यास्क यह लिखते हैं कि पुराण साहित्य में 'पुरा' अर्थात् परम्परा को नवीन रूप प्रदान किया जाता है। आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय का यह अभिमत भी दिया जा सकता है जिसमें वे यह कहते हैं कि पुराण शब्द का अर्थ प्राचीन अथवा पुराकाल में होने वाला हो सकता है[३]। एक विद्वान् का यह कहना है कि 'इति नः श्रुतम्' 'इति श्रुतः' 'इति श्रूयते' पदों के आधार पर जो पुराणों में दिए गए हैं, यह कहा जा सकता है कि इनसे वर्णनीय विषय की प्राचीनता के प्रति पौराणिकों का संकेत मिलता है[४]।

इसप्रकार से इन सभी प्रकार के अभिप्रायों से यह धारणा निर्मित की जा सकती है जिसमें यह कहना संगत हो सकता है कि पुराण वे ग्रन्थ हैं जिनमें परम्परा का निर्वाह होता है और साथ ही नवीन रूप देने का प्रयास भी सम्मिलित है। क्योंकि पुराणों की कथावस्तु प्राचीन है इसलिए इससे प्राचीनता का अवबोध होना तो स्वाभाविक है। और अन्ततः पुराण शब्द का अभिप्राय यह लिया जा सकता है जिससे पुरातन, पुराना का अवबोध हो और जिनमें रूपात्मक एवम् तथ्यात्मक पुरावृत्त संगृहीत हों[५]।

---

१. प.पु. ५/२/५३
२. ब्र.पु. १/१/१७६
३. वही ३/१९/१५२
४. हरि.पु.सां.आ., पृ.३२०
५. पु.स., पृ.८

## पुराण संरचना की पृष्ठभूमि

पुराण साहित्य और इसकी परम्परा को इसलिए प्राचीन माना जा सकता है क्योंकि इस शब्द का प्रयोग वेद तथा वेदाङ्ग साहित्य में किसी न किसी रूप मे मिलता है। ऋग्वेद में पुराण तथा पुरानी शब्द का उल्लेख है[१]। अथर्ववेद में पुराण एवं पुराणवित् शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है[२]। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'सनापुराणमध्येरात्' अर्थात् अब मैं सनातन पुराणों का अध्ययन करता हूँ-इसप्रकार का निर्वचन हुआ है। एक अन्य स्थान पर अश्विनी कुमारों को सम्बोधित कर यह कहा गया है कि आप दोनों का स्थान पुराण है। आपकी मित्रता से बहुत कल्याण होता है[२]। अथर्ववेद एक स्थान पर यह वर्णन करता है कि व्यास के रूप में उत्पन्न होकर सर्वाश्रय ईश्वर ने जिन पुराणों को लेखबद्ध किया है उनको परमात्मा को अनुकूल करने वाला जानो[३]।

इसी प्रकार से शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख में यह वर्णन किया गया है कि यज्ञ के नवें दिन कुछ पुराणों का पाठ किया जाना चाहिए "अथ नवमेऽहनि किंचित् पुराणमावक्षीत्।" दूसरे एक सन्दर्भ में यह संकेत है कि वाक्योवाक्य, इतिहास और पुराण का प्रतिदिन पाठ करना चाहिए। जो इनको जानता हुआ इनका पाठ करता है, वह निश्चित रूप से देवताओं को तृप्त करता है-एष देवांस्तर्पयति य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहास पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते[४]।"

---

१. ऋ वे.३/६/४९, १०/१३०/६, ९/९९/४

२. वही ३/५८/६

३. यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।
एक तदङ्गं स्कम्भत्यपुराणमनु संविदुः।। अ.वे.११/७/२५

४. श.बा.११/५/७/९

एक उपनिषद् में इस प्रकार का सन्दर्भ आया है जिसमें यह कहा गया है कि जब नारद जी सनत्कार के पास शिक्षार्थ गए थे और महर्षि ने नारद से प्रश्न किया था तो नारद जी ने उत्तर में यह कहा था कि भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और पंचम वेद के रूप में इतिहास-पुराण का अध्ययन किया है-'ऋग्वेदं भगवो ध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्[१]।' इसी प्रकार का एक कथन ऐसा भी है जिसमें यह कथन है कि जिस प्रकार से जलती हुई गीली लकड़ी से धूम निकलता है उसी प्रकार ईश्वर से स्वास रूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और इतिहास पुराण प्रकट हुए हैं-"सयथार्द्रेग्नेरभ्याहितात्पृथग्धू मा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निरवसितमेत् द्यदृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास: पुराणं विद्या उपनिषद: श्लोका: सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि[२]।"

उशना स्मृति में भी पुराण शब्द का प्रयोग किया गया है और वहाँ पर यह कहा गया है कि जब आचार्य एक संवत्सर तक शिष्य की परीक्षाकर लेते हैं उसके बाद वे उसे वेद, शास्त्र, स्मृति और पुराणों के तत्त्व का उपदेश करते हैं[३]। ऐसा ही एक सन्दर्भ अन्य स्मृति में भी प्राप्त है जिसमें यह कहा गया है कि श्राद्ध के समय वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास-पुराण और खिल सुनना चाहिए[४]। वाल्मीकि रामायण में भी पुराण शब्द का संकेत है और इस महाकाव्य के बालकाण्ड तथा आयोध्याकाण्ड में पुराण शब्द का उल्लेख किया गया है[४]।

---

१. ई. द्वा.उ., पृ. २२५
२. वही, पृ. ३०७
३. उ. स्मृ. ४/३४
४. म. स्मृ. ३/२३२

महाभारत पुराण में एक स्थान पर यह कहा गया है कि इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदों का विस्तार करना चाहिए, क्योंकि अल्पज्ञों से वेद डरता है कि कहीं कोई अल्पज्ञ अपनी अज्ञता से मुझ पर ऐसा प्रहार न करे कि मेरी क्षीणता हो। अर्थात् अल्पज्ञ अपने अल्प ज्ञान से उच्चारणादि की अशुद्धि से कहीं मुझको क्षीण न कर देवे[१]। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ पतञ्जलि महाभाष्य में महामुनि यह विवेचन करते हैं कि वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण और वैद्यक में सभी शब्द प्रयोग के विषय हैं-''वाकोवाक्य मितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावच्छब्दस्य प्रयोग विषयः[२]।''

महर्षि शुक्राचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ शुक्र नीति में यह लिखा है कि सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित और मन्वन्तर ये पुराण के लक्षण हैं। धर्म के तत्त्व के सन्दर्भ में उनका यह प्रतिपादन है कि धर्म का तत्त्व अतिगहन है इसलिए सभी को इसके मर्म का ज्ञान करने के बाद ही अपने कर्मों का प्रतिपादन करना चाहिए[२]। आचार्य कौटिल्य ने चाणक्य अर्थशास्त्र में पुराण, रामायण, महाभारत, इतिहास तथा आख्यायिका आदि को इतिहास में ही समाहित किया है[१]।

इस रूप में यह कहना संगत होगा कि पुराणों के बीज प्राचीन कथाओं में प्रारम्भ से ही प्राप्त हैं जो बाद में ग्रन्थों के रूप में प्रस्फुटित हुए। एक पाश्चात्य विद्वान् यह कहते हैं कि वेदों और पुराणों में आख्यानों की समरूपता होते हुए भी इनमें अनुवर्ती विकास परम्परा निहित है[५]।

---

१. इतिहासपुराणभ्यां वेदं समुपवृहंयेत्।
   विभेत्यल्यश्रुतात् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।। म.भा.,पृ. ४५०

२. वही १/१/१

३. शु.नी. ४/२६४, ३/३८ ४. कौ.अ.,पृ. १९

५. हि.इ. लि. भाग-१, पृ. ५१८

## पुराणों का रचनाकाल

पुराणों के समय का इदमित्थं रूप में निर्धारण कर पाना तो कठिन है किन्तु पहले यह संकेत हो चुका है कि पुराण-कथाओं के बीज वैदिक काल से ही प्राप्त होते हैं। वेद किसी न किसी रूप में पुराण का नाम लेते हैं और यह संकेत करते हैं कि तब पुराण एक परिचित विद्या थी। अथर्ववेद में जो पुराणवित् शब्द प्राप्त होता है उसका यह संकेत कुछ विद्वानों की दृष्टि से लिया जाता है कि यह शब्द पुराण से परिचित होने का संकेत करता है[१]।

इसी प्रकार से वेदोत्तर साहित्य में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में पुराण शब्द का संकेत मिलता है और इससे यह संकेत लिया जा सकता है जिससे यह कहा जा सके कि उस समय भी किसी न किसी रूप में पुराण शब्द का परिचय था, भले ही ग्रन्थ रूप में इनका अस्तित्व बाद में हुआ हो। शतपथ ब्राह्मण में पुराण शब्द स्वतंत्र रूप से और इतिहास के साथ सम्मिलित रूप से भी उल्लिखित है[२]।

गोपथ ब्राह्मण में चारों वेदों के उद्भव के साथ-साथ ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास तथा पुराण के उद्भव का संकेत है-

"एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः संकल्पा सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः ऐतिहासाः सान्वारव्याता सपुराणाः[३]।" यह स्थिति इस तथ्य का संकेत करती है कि तत्कालीन समय में वेद तथा वेदाङ्गों के साथ-साथ पुराण भी अस्तित्व में थे।

---

१. पु.स.,पृ. ३४-३५

२. श.ब्रा. १३/४/३/१२-१३, १४/६/१०/६

३. वही, पूर्व भाग २/१०

एक इतिहासविद् का यह मत है कि ब्राह्मण ग्रन्थों को देखने से यह पता चलता है कि उस समय के काल में इतिहास और पुराण की पृथक्-पृथक् दो धाराएँ अवश्य रूप से विद्यमान थीं। इन दोनों प्रकार की धाराओं में वर्ण्य-विषय और वर्णन शैली की दृष्टि से स्पष्ट अन्तर था[१]। तैत्तरीय आरण्यक और बृहदारण्यकोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद् में भी यह स्पष्टतः संकेत किया गया है कि उस समय पुराणों का अस्तित्व था और वे उसी भाँति पृथक्-पृथक् रूप से संकलित थे, जिसप्रकार से अन्य विद्याओं के ग्रन्थ संकलित होते हैं[२]।

धर्मसूत्र एक ऐसा प्राचीन साहित्य है, जिसमें यह देखा जा सकता है कि उस समय पुराण किसी न किसी रूप में अस्तित्व में थे। आश्वलायन गृह्यसूत्र में एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो भी कोई विधिपूर्वक पुराणों का अध्ययन करता है, वह अमरत्व की प्राप्ति का अधिकारी होता है[३]। इसी तरह से एक स्थान पर यह कहा गया है कि पुराण का पाठ करते हुए यज्ञ की अग्नि का प्रदीप्त होना मंगल का प्रतीक है-

तंदीपयमाना आसत आ शान्त रात्रादायुष्मता कथाः कीर्तियन्तो मांगल्यानीतिहासपुराणानीत्यारूपायमाना[४]। इसी प्रकार से गौतम धूर्मसूत्र में यह कहा गया है कि न्याय कार्य में जहाँ एक ओर से न्याय ग्रन्थ प्रामाणिक होते हैं, वहीं दूसरी ओर पुराण ग्रन्थों को भी न्याय की दृष्टि से साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए[५]।

---

१. पु.सं.,पृ. ३५
२. तै.आ.२/९, बृह. २/४/११, छान्दो. ७/१/४
३. आ.गृ.सू. ३/४, ४/६
४. वही ४/६
५. गौ. सू. ११/१९

इस आधार पर यह कहना संगत होगा कि सूत्रकाल तक पुराणों का संकलन और प्रणयन किसी न किसी रूप में हो चुका था। जहाँ तक सूत्रकाल के समय निर्धारण का प्रश्न है तो उसके बारे में यह कहा जाता है कि इनका समय ईसा पूर्व पांचवी अथवा छठवीं शताब्दी हो सकता है। इसलिए पुराणों का रचनाकाल भी इसी समय का कहना तर्क संगत माना जा सकता है। यद्यपि इस मान्यता को पर्याप्त महत्त्व दिया जाना चाहिए किन्तु सूत्रकाल में इनका विधिवत संकलन अवश्य हो चुका था[१]। एक पाश्चात्य विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि आपस्तम्ब धर्म सूत्र के पूर्व ही कम से कम एकाध पुराण की रचना हो चुकी थी[२]। पं. बल्देव उपाध्याय का यह मानना है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र की रचना तक कोई न कोई एक-दो पुराण अवश्य ही रचे जा चुके थे[३]।

लौकिक संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण को आदि काव्य के रूप में मान्यता प्राप्त है। इस महाकाव्य में भी अनेक प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जिनसे पुराणों का रचना समय निर्धारित करने में सहयोग हो सकता है। वाल्मीकि रामायण का एक सन्दर्भ यह संकेत करता है कि सुमन्त न केवल पुराण वेत्ता हैं अपितु वे अनेक पौराणिक पुरावृत्तों के ज्ञाता भी हैं। इस कथन से जहाँ पौराणिक वृत्त के ज्ञाता सूत्र का ज्ञान होता है, वहीं यह अनुमान भी होता है कि वाल्मीकि के समय तक पुराण अस्तित्व में आ चुके थे[४]।

---

१. ह.पु.सा.अ.,पृ.११

२. स्टडीज इन द उपपुराणाज, भाग-१, पृ. २

३. पु.वि.,पृ.१९

४. बा.रा.,पृ.४८२, ४५८

वाल्मीकि महाकाव्य परम्परा का दूसरा काव्य महाभारत तो स्पष्ट रूप में अनेकशः पुराणों का उल्लेख करता है। इस महाग्रन्थ में स्वयम् ही यह कहा गया है कि इस महाकाव्य की रचना महाकवि व्यास ने पुराणों की रचना के बाद की है[१]। इसी तरह एक स्थल पर यह निरूपण है कि पुराण रूपी पूर्णचन्द्र के द्वारा ही श्रुति चन्द्रिका प्रकाशित हुई है- पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुति ज्योत्स्ना प्रकाशिता[२]।

महाभारत में जनमेजय द्वारा वर्णित नाग यज्ञ के आख्यान को वायु पुराण से लिया हुआ माना जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान् की यह मान्यता है कि वायु पुराण का नागयज्ञ सम्बन्धी आख्यान महाभारत के आख्यान से प्राचीन है[३]। इसलिए यह कहा जाता है कि महाभारत के अन्तिम अंश सम्पादन काल तक, जो लगभग चतुर्थ शताब्दी तक का है, पुराणों का प्रणयन हो चुका था[४]।

ईशा पूर्व की तीसरी अथवा चतुर्थ शताब्दी के ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र में इतिहास के अन्तर्गत पुराण की चर्चा भी की गई है। वहाँ पर राजा के समय-यापन के क्रम में यह बताया गया है कि राजा दिन के दूसरे भाग को इतिहास-पुराण सुनने में लगावे-'पश्चिममितिहासश्रवणेन पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रंचेतितिहासः[५]।' इसी तरह से राजा के लिए दिए गए निर्देश में यह कथन है कि राजा को चाहिए कि वह सामुदायिक, नैमित्तिक, मौहूर्तिक, पौराणिक, सूत मागध और पुरोहित आदि को एक हजार पण वेतन देवे।

---

१. म.भा. १८/६/९५
२. वही आदि पर्व २/८६
३. द ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया, पृ. ४८
४. स्ट. एपि.पुराण, भू., पृ. ३१
५. कौ.अ., पृ. १९
६. वही, पृ. ५१३

स्मृति ग्रन्थों में भी अनेकशः पुराणों का कथन किया गया है। महर्षि मनु ने एक स्थान पर लिखा है कि पितृ श्राद्ध के समय पितरों को वेदशास्त्र, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास और पुराणादि का श्रवण करना चाहिए-

स्वाध्यायं श्रावेत् पित्रे धर्मशास्त्राणि चेत् हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च [1]।।

महर्षि व्यास ने व्यास स्मृति में यह व्यवस्था दी है कि द्विजों को चाहिए कि वे पौराणिक धर्म के अनुकूल अपना जीवन यापन करें[2]। महर्षि के इस निर्देश से यह भी प्रतीत होता है कि पौराणिक धर्म वेद, स्मृति में चौदह विद्याओं का कथन है और इन विद्याओं में पुराण विद्या को महत्वपूर्व स्थान प्राप्त है। मनुष्य के जीवन में भक्ति-प्राप्ति के लिए पुराणों के नियमित पारायण को महत्वपूर्ण बतलाया गया है[3]।

शुक्रनीतिकार ने भी पुराणों के सन्दर्भ के संकेत दिए हैं। उन संकेतों में यह कहा गया है कि राजाओं के राजकीय कार्यों के निष्पादन में पुराणवेत्ताओं की योग्यता और उपादेयता असंदिग्ध होती है। पुराणवेत्ता को पुराणों के आख्यानों के ज्ञान के अतिरिक्त साहित्य, संगीत आदि विद्याओं का भी ज्ञान होता है-

साहित्यशास्त्राणिपुराणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः।
सर्गादपवर्गविदज्ञाता स वै पौराणिकः स्मृतः।।[4]

---

१. म.स्मृ.,पृ. १२४
२. व्या.स्मृ. २१५
३. या.स्मृ.,पृ. ४६
४. शु.मी.,पृ. ८३

शुक्र नीति में ही महर्षि ने विद्याओं और कलाओं के वर्णन में पुराण को एक विद्या के रूप में गिना है, उन्होंने सर्ग और प्रतिसर्ग के रूप में पुराण का लक्षण भी दिया है[१]। ईसवीय की सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध का समय बाण का कार्यकाल कहा जाता है[२]। बाण ने अपनी प्रसिद्ध कृति कादम्बरी में पुराण का संकेत किया है। इस कृति के जाबालि आश्रम वर्णन में 'पुराणेवायुप्रलपितम्' कहकर गद्यकार ने वायु पुराण का तो स्पष्ट उल्लेख किया है। एक अन्य स्थान पर ऋषिकुल के वर्णन में भी पुराण का संकेत है[३]। गद्य कृति हर्ष चरितम् में भी पुराण का उल्लेख तब किया गया मिलता है जब यह कहा गया है कि वायु द्वारा पोषक पुराण वायु पुराण कहा जाता है।

पुराणों के सन्दर्भ में अन्य और संकेत भी मिलते हैं जिनमें सप्तम शताब्दी के आचार्य कुमारिल भट्ट का नाम इस सन्दर्भ से लिया जा सकता है[४] जिसमें उन्होंने अपने संकेत में जैमिनि सूत्र में पुराणों के स्वरूप, वर्ण्य-विषय और प्रामाण्यादि का विवेचन किया है[५]। इस रूप में यदि कहा जाए तो यह कहना संगत हो सकता है कि सप्तम शती तक पुराण पर्याप्त मात्रा में प्रतिष्ठित हो चुके थे और लगभग सभी क्षेत्रों एवं विधाओं में उनका उल्लेख किया जा रहा था।

---

१. शु. नी., पृ. २२५, २२९

२. का. क. भू., पृ. २०

३. वही, पृ. १२८, २८१

४. मी. प्र., पृ. ६

५. जै. सू. २/३/१, १/३/३०

अद्वैत वेदान्त के आचार्य शंकर भी पुराणों से परिचय होने का संकेत देते हैं। वे यह मत व्यक्त करते हैं कि पुराण और स्मृतियाँ समानार्थक हैं। पुराणों के व्यापक सूचनात्म स्वरूप के साथ-साथ गुप्त कालीन अभिलेख भी इस प्रकार के संकेत देते हैं कि उस समय पुराण अपने स्वरूप में समाज में आ गए थे। इन अभिलेखों में ब्रह्म पुराण, गरुड पुराण और भविष्य पुराण के सन्दर्भ स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं[१]।

यद्यपि इन सभी उद्धरणों के आधार पर भी यदि यह निश्चय रूप से कहना चाहें कि पुराण-रचना का एक निश्चित समय कौन सा है, तो ऐसा करना कठिन कार्य होगा, क्योंकि पुराणों की विषय वस्तु आख्यानपरक है और यह परम्परागत रूप से प्राप्त हुई। इसको किसी एक काल अथवा समय की सीमा में बांध पाना दुरूह कार्य लगता है। यह साहित्य इतना अधिक विशाल और व्यापक है कि सहजरूप से इसे किसी एक कालखण्ड में समेट पाना सम्भव नहीं है। फिर भी इतिहासविद् कादम्बरी के वायुपुराण के उद्धरण का उल्लेख करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं[२] कि सम्भवत: पुराण-परम्परा में वायुपुराण ही प्राचीन पुराण है जो उस समय लिखित रूप से प्राप्त था और जिसका प्रचार समाज में इतना हो चुका था जिससे उसका स्मरण वाण जैसे ख्यातिलब्ध लेखक को करना पड़ा। एक विद्वान का मत इसी प्रकार का है[३]।

---

१. ज. रा. ए. सो. (१९१२), पृ. २४८-२५५

२. का. क., पृ. १२८, ह. च., पृ. १४६, १४७

३. पु. इ. भू., पृ. १८-२१

विष्णु पुराण के विषय में यह कहा जाता है कि यह पुराण भी एक प्राचीन पुराण है और इसकी प्राचीनता वायुपुराण की ही तरह से स्वीकार की जा सकती है। पुराणों में जो पुराणों के पंच लक्षण दिए गए हैं, उनमें विष्णु पुराण अनन्यतम है। एक पाश्चात्य विद्वान् इस विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए यह लिखते हैं कि इसके वर्ण्य-विषय और इसकी रचना शैली समरूप है। इस पुराण की रचना शैली अपनी प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी। इस पुराण में स्थान-स्थान पर जो जैनों और बौद्ध-विचारों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं उनसे भी यह तथ्य निरूपित करने में सहायता मिलती है कि इस पुराण की रचना वंशीय शासन में हुई होगी। यह समय लगभग पाँचवी शताब्दी का समय रहा होगा[१]।

आचार्य पण्डित बल्देवोपाध्याय अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि मत्स्य पुराण सम्भवत: अनेक परवर्ती पुराणों की विषय वस्तु के लिए उपजीवक पुराण है। उन्होंने अपने तर्क में यह कहा है कि 'विक्रमोर्वशीयम्' की विषय वस्तु ऐसी है जिसे मत्स्य पुराण पर आधारित माना जा सकता है, इसलिए कालिदास द्वारा लिखित विक्रमोर्वशीयम् को यदि प्रामाणिक रूप से मत्स्य पुराण पर आधारित मान लिया जाए तो फिर मत्स्य पुराण का समय प्राक् कालिदास का समय होगा और यह समय ईशवीय की २०० से ४०० के बीच का होना चाहिए[२]।

---

१. ए. इ. हि. ट्रे., पृ. ८०

२. पु. वि., पृ. ५४३-५४४

कहा यह जाता है कि पुराण अपने प्रारम्भिक स्वरूप में पंचलक्षणों से युक्त थे किन्तु जैसे-जैसे इनका विकास होता गया, वैसे-वैसे इनमें अन्य सम्प्रदायों के विचारों का समावेश होता गया। इस दृष्टि से यह विचार भी किया जाता है कि चौदहवीं, तेरहवीं और सोलहवीं शताब्दी, जो श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री बल्लभाचार्य जी की प्रकाश शताब्दियाँ हैं, पुराणों के प्रक्षिप्तांश की भी शताब्दियाँ हैं। इसी समय ऐसा हुआ कि जिससे अनेक प्रकार के सिद्धान्त एक साथ अनेक पुराणों में समाहित हो गए[१]।

एक भारतीय विद्वान् यह लिखते हैं कि पुराणों की आख्यान अवस्था १२०० ईसा पूर्व से ९५० ई. पू. तक की है। उनके पृथक्करण की अवस्था ९५० ई. पू. से लेकर ५०० ई. पू. तक की कही जा सकती है। पुराणों की पंचलक्षण अवस्था ५०० ई. पू. से लेकर प्रथम शताब्दी तक की कही जा सकती है। इसी तरह से पुराणों की साम्प्रदायिक अवस्था ईसवीय की प्रथम शताब्दी से लेकर ७०० ईसवीय तक की हो सकती है[२]।

श्री पी.वी. काणे का मत यद्यपि इसी प्रकार का है तथापि वे पुराणों की विकास की अवस्था को दूसरी तरह से देखते हैं। वे इसका विवरण देते हुए यह लिखते हैं कि प्रथम स्थिति में पुराण का वह स्वरूप है जिसमें अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण और प्राचीन उपनिषदों के सन्दर्भ देखते हैं। द्वितीय स्थिति के प्रतिपादन में उनका कहना है कि इसमें तीन पुराण हैं, क्योंकि तैत्तरीय आरण्यक और आपस्तम्ब धर्मसूत्र भविष्य पुराण की सूचना देते हैं। यह समय ई. पू. की चतुर्थ अथवा पाँचवी शताब्दी का हो सकता है।

---

१. पु. स., पृ. ४७
२. पु, प. भाग-१, पृ. २१३-२१९

आचार्य काणे पुराणों की तृतीय स्थिति का संकेत करते हुए यह लिखते हैं कि यह समय ईसवीय की दूसरी-तीसरी शताब्दी है जब महाभारत और स्मृतियाँ पुराणों का उल्लेख करती हैं। वे लिखते हैं कि मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराण न केवल चतुर्थ शताब्दी तक रचे जा चुके थे अपितु तब तक इनका पुनः संस्कार भी किया जा चुका था। अधिकतर महापुराण पाँचवी/छठवीं शताब्दी में अपना वर्तमान स्वरूप ग्रहण कर चुके थे और यही इनकी चतुर्थ स्थिति थी। इन पुराणों से सम्बद्ध जो उपपुराण हैं, उनके सन्दर्भ में यह कहना है कि ७वीं, ८वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक उपपुराणों को भी अपना कलेवर प्राप्त हो चुका था[१]।

इस तरह से पुराणों के रचनाकाल के विषय में विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि पुराणों के रचना-समय को एक सीमित समय में बाँध पाना कठिन काम है, इनका कलेवर विस्तृत है, इनकी विषय वस्तु व्यापक है, इनका विस्तृत फलक है इसलिए इनका रचना समय भी विस्तृत है। इस समीक्षात्मक दृष्टि से यही कहना सम्भव हो सकता है कि पुराण सामान्यतः ईसा पूर्व की तृतीय-चतुर्थ शताब्दी से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक रचे जाते रहे हैं।

---

१. हि. ध.भाग-२, पृ. ८५३-८५५

## पुराण-रचनाकार

परम्परा में यह जनश्रुति है कि वेद व्यास ने ही पुराणों की रचना की थी, जिसका संकेत किसी न किसी रूप में पुराण भी देते हैं। जैसे कि एक पुराण स्कन्द पुराण में यह कहा गया है कि भगवान् ने स्वयम् ही युग विशेष में व्यास का रूप धारण करके अठारह पुराणों का आख्यान किया है-

> व्यास रूपं विभुं कृत्वा संहरेत् स युगे युगे।
> तदेष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाशते[१]।।

इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह सन्दर्भ आया है जिसमें महाभारत ग्रन्थ की महिमा का आख्यान करते हुए यह कहा गया है कि सत्यवती नन्दन व्यास ने अठारह पुराणों की रचनाकर इन कथानकों को समन्वित कर महाभारत नामक इतिहास की रचना की। इसी सन्दर्भ में एक अन्य पुराण  का अवलोकन करने पर यह अवगत होता है कि महर्षि व्यास को ही साक्षात् नारायण का अवतार मानना चाहिए। इन्हीं महर्षि से पुराण सुने गए। यही महर्षि ब्रह्मवादी थे, सभी तत्त्वों के ज्ञाता थे, सभी लोकों में विधिवत पूजे जाते थे और प्रदीप्त तप-तेज से परम तेजस्वी थे। यद्यपि एक अन्य सन्दर्भ भी है जो महर्षि मनु को अठारह पुराणों का व्याकर्ता मानता है और यह प्रतिपादित करता है कि अठारह पुराणों के व्याकर्ता महर्षि मनु हैं।

> अष्टादशपुराणानां व्याकर्ता तु भवेत् मनुः[२]।

महर्षि वेद व्यास के नाम से जो व्यास शब्द जुड़ा हुआ है इसको लेकर अनेक लोग अपनी अलग-अलग व्याख्याएँ करते हैं। एक कथन यह है कि व्यास शब्द का अभिप्राय विस्तार करने वाला भी होता है। व्यास उसे कहा जाता है जो किसी विषय का विस्तार करता है

---

१. स्क. (१), पृ. २१८

२. प.पु. पाताल खण्ड १११/९८

व्यास किसी भी विषय का विश्लेषक, कथावाचक और पुराण वार्ताकार होता है।

यदि व्यास शब्द के इन अर्थों को ग्रहण किया जाए तो यह कहना भी संभव हो सकता है कि किसी एक व्यक्ति के द्वारा एक ही काल में पुराण जैसे विशाल वाङ्.मय का रचा जाना सम्भव नहीं दिखता। इसलिए यह भी सम्भावना हो सकती है कि अनेक ऋषि-महर्षियों ने अपने-अपने समय में विविध पुराणों की रचना की हो और उन सभी को व्यास पद से विभूषित किया जाने लगा है बाद में काल क्रम से अन्य व्यासों के मूल नाम को भुला दिया गया हो और महत्त्वपूर्ण पुराण के रचनाकार रूप में व्यास का नाम रह गया हो। इस तर्क में महत्त्व का तथ्य यह भी है कि पृथक्-पृथक् पुराणों की भाषा और शैली भिन्न-भिन्न है। इसलिए भी कह सकते हैं कि सम्पूर्ण पुराणों का रचनाकार कोई एक व्यक्ति नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए श्रीमद्भागवत महापुराण की भाषा का यदि अवलोकन किया जाए तो इसकी भाषा सरल के साथ-साथ कहीं पर अत्यधिक क्लिष्ट और समास शैली वाली भाषा है। यही कारण है कि न केवल भाषा की दृष्टि से अपितु भावभूमि की दृष्टि से भी श्रीमद्भागवत् कठिन ग्रन्थ है।

इसके विपरीत अन्य पुराणों के साथ-साथ पद्मपुराण की शैली सरल और सहज है तथा इसका पाठ सामान्य व्यक्ति भी सहजता से कर सकता है[२]।

---

१. सं. श. कौ., पृ. १०८१

२. भा. पु., पृ. २६७, प. पु.,पृ. २४५

इसी सन्दर्भ का एक संकेत और मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने विभिन्न युगों में व्यास का रूप धारण कर पुराणों की रचना की[1]। इस कथन से यह संकेत लिया जा सकता है कि एक से अधिक व्यास रहे हों और उन्होंने समय-समय पर पृथक्-पृथक् पुराणों की रचना की हो।

**पुराण वक्ता**

प्रायः सभी पुराणों में वक्ता के रूप में सूत का नाम बार-बार आता है। यही सूत कथा प्रारम्भ करते हैं और पौराणिक के रूप में जाने जाते हैं। जैसे कि श्रीमद्भागवत महापुराण में महात्म्य के सन्दर्भ में सूत शौनक को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे शौनक! तुम्हारे चित्त में भगवद् कथा के प्रति जो प्रीति है उसके अनुरूप मैं सर्व सिद्धान्त प्रतिपादक, संसार भय नाशक, भक्तिवर्धक, श्रीकृष्ण को सन्तुष्टि देने वाला पौराणिक कथानक कहता हूँ। इसे सावधानी पूर्वक सुनो-

> प्रीतिः शौनकचित्ते ते ह्यतो वच्मि विचार्य च।
> सर्वसिद्धान्तनिष्पदनं संसारभयनाशनम्।।
> भक्त्योघवर्धनं यच्च कृष्णसन्तोषहेतुकम्।
> तदहं तेऽभिधास्यामि सावधानतयाश्रृणु।।
> कालव्यालमुखग्रासत्रासनिर्णाश हेतवे।
> श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेणभाषितम्।।
> एतस्मात् परं किञ्चिन्मनः शुद्ध्यै न विद्यते।
> जन्मान्तरे भवेत् पुण्यं तदा भागवतं लभेत्[2]।।

---

१. प. पु. सृष्टि खण्ड १/५०
२. भा. पु., पृ. २५

एक अन्य पुराण में भी ऐसा ही सन्दर्भ है जिसमें यह कहा गया है कि एक समय पौराणिकोत्तम सूत ने नारद जी के समक्ष भगवान् महादेव जी की कथा कही थी[१]। इन कथानकों में आए सूत के सन्दर्भ को लेकर ही कुछ आलोचक पुराणों के रचनाकार के विषय में विचार करते समय सूत पर भी विचार करते हैं और कभी-कभी ऐसा मन्तव्य प्रकट करते हैं जैसे कि पुराणों की रचना में सूत का महत्त्व एक रचनाकार की तरह से होवे।

मनु स्मृतिकार ने एक स्थान पर सूत के जन्म को लेकर जो संकेत किया है, उसका अभिप्राय यह है कि क्षत्री से जो सन्तान विप्र कन्या में उत्पन्न होती है, वह सन्तान सूत कही जाती है-

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः[२]।

श्रीमद्भागवत् पुराण में सूत को प्रतिलोमज कहा गया है और कथा कहते हुए शिष्ट व्यवहार न करने के कारण उसे निन्दित भी माना गया है[३]। अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य भी क्षत्रिय से उत्पन्न सन्तान को सूत कहते हैं तथापि वे यह भी मानते हैं कि पुराणों में वर्णित सूत और मागध इससे भिन्न हैं- क्षत्रियात् सूतः। पौराणिकस्त्वन्यः सूतो मागधश्च ब्रह्मक्षत्रात् विशेषतः[४]।

अग्नि पुराण इस सन्दर्भ में जो अभिमत देता है उसके अनुरूप यह कहा जाता है कि सूत द्विज और वेदशास्त्रों के ज्ञाता होते थे। वे धर्म के धारक और पुनीत कार्यों में लगने वाले विद्वान् होते थे[५]। इसलिए उन्हें पुराण का ज्ञाता और कथा का प्रस्तोता माना जाना चाहिए।

---

१. लि. पु., पृ. ३३-३५
२. म. स्मृ., पृ. ४२८
३. भा. म. पु., पृ. ५३६
४. वही, पृ. ३४७-३४८
५. वा. यु. १८/१५

## पुराण संख्या

एक पुराण में इस प्रकार का सन्दर्भ आया है जिसमें यह कहा गया है कि व्यास जी ने अपने शिष्य शौनक को जब पुराणों का अध्ययन कराया तब उन्होंने पुराणों की संख्या अठारह बतायी। इन अठारह पुराणों में भी उन्होंने यह संकेत किया कि इनमें से ब्रह्म पुराण अन्य सभी पुराणों की अपेक्षा प्राचीन है- 'अष्टादशपुराणानि पुराणं ब्रह्मप्रचक्षते।'[१] पुराणों की संख्या अठारह है- इसका संकेत और स्थानों पर भी किया गया है[२]-

एवं लक्षणलक्ष्यानि पुराणानि पुराविदः।
मुनयोऽष्टाश प्राहु क्षुल्लकानि महान्ति च।।
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लिङं. सगारूऽम्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कन्दसंज्ञितम्।।
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्[२]।।

इस रूप में इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों की संख्या अठारह ही है। इनका जो क्रम दिया गया है उसके अनुरूप इन्हें ब्रह्म पुराण, पद्मपुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिङ्. पुराण, वाराहपुराण, स्कन्द पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड पुराण एवम् ब्रह्माण्ड पुराण के रूप से गिना गया है।

---

१. वि. पु. (१), पृ. ३९१
२. भा. म. पु., पृ. ७४३, वा. पु., पृ. १९५

## पुराण-वर्गीकरण

पुराण साहित्य की अपनी यह एक विशिष्ट शैली है जिसके अनुरूप वे किसी भी पुराण के एक देव की स्तुति ऐसे रूप में करते हैं जिससे उस देव के समक्ष अन्य देवता अपेक्षाकृत हीन दिखाई देते हैं। जैसे कि विष्णु पुराण की रचना करते हुए रचनाकार ने भगवान् विष्णु की जिस रूप में स्थापना की है, उसमें यह कहा है कि वे सृष्टि के उत्पादक, धारक और विनाशक स्वयम् ही हैं। वे त्रिकालज्ञ हैं, वे अविनाशी हैं, वे हिरण्यगर्भ हैं और शंकर के नाम से जाने जाते हैं-

सर्गस्थितिविनाशानां जगतो योऽजगन्यजः।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने[१]।।

इसी तरह से पुराणकार जब भगवान् शंकर की यशस्विता में लिंग पुराण की रचना करते हैं तब वह लिंग रूप शिव की महिमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि लिंग की ही आज्ञा से समस्त महाभूत सृष्टि का सृजन करते हैं। जीवमात्र की बुद्धि लिंग से ही अध्यवसित होती है-

महाभूतान्यशेषाणि जनयन्ति शिवाज्ञया।
अध्यवस्यति सर्वार्थानुसिद्धस्तस्यार्थया[२]।।

यही स्थिति अन्य पुराणों में भी देखने को मिलती है जिसमें प्रत्येक पुराण के देवता अपने-अपने स्वरूप में सर्वश्रेष्ठ दिखाई देते हैं। इसलिए इन देव-स्वरूपों के ही अनुसार पुराणों का वर्गीकरण किया जाता है।

---

१. वि. पु., पृ. ४६
२. लि. पु., पृ. १५८

स्कन्द पुराण में इसी प्रकार का वर्गीकरण दिया गया है जिसके अनुसार पुराणों को शैव, वैष्णव, ब्रह्म, अग्नि तथा सूर्य देवताओं के अनुसार वर्गीकृत किया गया है। इस वर्गीकरण में दस पुराण शैव, चार पुराण वैष्णव, दो पुराण ब्रह्म, एक अग्नि तथा एक सूर्य से सम्बन्धित है। यह वर्गीकरण इस रूप में देखा जा सकता है-

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १. शैव पुराण- | १. | शिव | २. | भविष्य | ३. | मार्कण्डेय |
| | ४. | लिंग | ५. | वाराह | ६. | स्कन्द |
| | ७. | मत्स्य | ८. | कूर्म | ९. | वामन |
| | १०. | ब्रह्माण्ड | | | | |
| २. वैष्णव पुराण- | १. | विष्णु | २. | भागवत् | | |
| | ३. | नारद | ४. | गरुड़ | | |
| ३. ब्रह्म पुराण- | १. | ब्रह्म पुराण | २. | पद्म पुराण | | |
| ४. अग्नि पुराण- | १. | अग्नि पुराण | | | | |
| ५. सूर्य पुराण- | १. | ब्रह्मवैवर्तपुराण[१] | | | | |

एक दूसरा वर्गीकरण इस प्रकार का किया गया है जिसमें यह विवरण है कि मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द, अग्नि तामस पुराण हैं। विष्णु, नारद, भागवत्, गरुड, पद्म, वराह सात्विक पुराण हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, ब्राह्म ये राजस पुराण हैं। इस प्रकार का विवरण पद्म पुराण में प्राप्त है।

---

१. स्कन्द पुराण २/३०/३८

वहाँ पर यह सन्दर्भ दिया गया है-

मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कन्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे।।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे[१]।

एक पुराण में यह कहा गया है कि सत्वगुण प्रधान पुराणों में विष्णु के माहात्म्य का कथन किया गया है। इसी प्रकार से रजोगुण प्रधान पुराणों में ब्रह्मा के महत्त्व का कथन है। जो पुराण तमोगुण प्रधान कहे जाते हैं उनमें अग्नि तथा शिव का वर्णन किया गया है[२]।

इन वर्गीकरणों के अतिरिक्त पुराणों के जो अन्य वर्गीकरण हैं, उनमें साहित्यिक, ऐतिहासिक, साम्प्रदायिक और प्रक्षिप्तांश बहुल पुराण हैं। इनमें से साहित्यिक और ऐतिहासिक पुराणों में गरुड, अग्नि तथा नारद पुराण हैं। तीर्थों और व्रतों के आधार पर जिनका वर्गीकरण किया गया हैं उनमें पद्म, स्कन्द और भविष्य पुराण हैं। इतिहास प्रधान पुराणों के वर्गीकरण में ब्रह्माण्ड और वायु पुराण का नाम आता है। साम्प्रदायिक पुराणों में लिंग, वामन और मार्कण्डेय पुराण गिने जाते हैं। जो पुराण प्रक्षिप्तांश बहुल हैं और जिनकी विषय वस्तु में प्रक्षिप्त अंश अधिक मात्रा में सम्मिलित हैं उनमें ब्रह्मवैवर्त ब्रह्म पुराण और भागवतपुराण हैं। एक वर्ग पुराणों का ऐसा भी है जिनके सम्पूर्ण स्वरूप में परिवर्तन हो गया है और जिनका प्राचीन स्वरूप या तो रहा नहीं हैं अथवा जिनके प्राचीन अंश का शेषांश बहुत कम रह गया है। इस प्रकार के पुराणों में वाराह, कूर्म रह गया हैं। इसी रूप में पुराणों के वर्गीकरण को देखा जाताा है।

---

१. प. पु. उत्तराखण्ड २६३/८१-८४
२. वही, पृ. २१९

## पुराण विषय

पुराणों में यद्यपि अनन्त आख्यान हैं और इनमें अनन्त विषयों का समावेश किया गया है तथापि सबका समेकित स्वरूप पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। इन पाँच प्रकार के विषयों में सर्ग (ब्रह्मा द्वारा की गई सृष्टि-रचना) प्रति सर्ग (ब्रह्मा के मानस पुत्रों द्वारा रचित सृष्टि अथवा प्रलय) वंश (सूर्य वंश, चन्द्रवंश के साथ-साथ अन्य राजाओं का जीवन चरित) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का विस्तृत विवेचन भी किया गया है-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम्।।
ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च।
धर्मार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद् विरुद्धं चयत् फलम्[१]।।

इन पंच लक्षणों वाले विषय प्रायः सभी पुराणों में प्राप्त होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि प्रायः सभी पुराणों में सृष्टि का वर्णन मिलता है। सभी पुराणों में राजाओं के वंशों का वर्णन होने के साथ-साथ सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं का वर्णन है। विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत तथा अग्नि पुराण आदि में यह सभी प्राप्त होता है और जिन पंच लक्षणात्मक विषयों का कथन किया गया है, वे सभी प्राप्त होते हैं[२]।

---

१. म. पु. (१), पृ. २१८
२. वि. पु. (१), पृ. ३९१, दे. मा. १/२१/६, मा. पु. १३७/१३

पुराणों के लिए जिन पंच लक्षणात्मक स्वरूप की चर्चा की गई है, उनका पालन यद्यपि किया गया है तथापि कुछ पुराण ऐसे हैं जिनमें इन पंञ्लक्षणात्मक विषयों के वर्णन का परिपालन नहीं किया गया है। एक पुराण-समीक्षक आचार्य यह लिखते हैं कि वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड तथा विष्णु आदि प्राचीन पुराणों में पञ्चलक्षणात्मक विषय प्राप्त होते हैं किन्तु बाद के समय में जैसे-जैसे पुराणों की रचना होती गई वैस-वैसे पंचलक्षणात्मक विषयों के वर्णन का क्रम छूटता गया[१]। एक विद्वान् आचार्य तो यह कहते हैं कि कोई भी पुराण ऐसा नहीं है जो पूरी तरह से पंच लक्षणात्मक होवे। अर्थात् किसी भी पुराण में पाँच प्रकार के विषयों का सर्वाड़ं विवेचन नहीं किया गया है। कुछ पुराण ऐसे हैं जिनमें इन पाँच विषयों के अतिरिक्त अन्य कई विषयों का समावेश है और कुछ पुराण ऐसे हैं जिनमें इन पाँच विषयों की चर्चा तक नहीं की गई है। इन आचार्य का यह कथन है कि पंच विषयात्मक जिन पंचलक्षणों की चर्चा की गई है वे केवल उप पुराणों के लिए हैं, महापुराणों के लिए तो दस लक्षणात्मक विषयों का कथन होना चाहिए[२]।

एक अन्य विद्वान् का यह कथन है कि जिन पंच लक्षणात्मक विषयों का संकेत किया गया है, उसका परिपालन पुराणों के चार लाख श्लोकों में से केवल दस हजार श्लोकों में ही किया गया है। शेष श्लोकों में अन्य अनेक विषयों का समावेश है[३]।

श्रीमद्भागवत महापुराण में यह संकेत किया गया है कि पुराण-विषयों के पाँच नहीं, दस लक्षण होने चाहिए। वहाँ पर सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु तथा अपाश्रय के रूप में दस लक्षण कहे गए हैं[४]।

---

१. पु. स., पृ. २०
२. कल्याण, पृ. ५५२
३. द. पृ. पं. ल., पृ. ९, ४९
४. वही, पृ. १०७, ७४३

## पुराण संरचना का उद्देश्य

यद्यपि भारतीय सन्दर्भ में वेदों का सर्वाधिक महत्त्व है और यह कहा जाता है कि वेद भारतीय ज्ञान, विचार, परम्परा और सामाजिक संरचना के आदि उत्स हैं, किन्तु इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि जो वेदों को भलीभाँति जानना चाहता है और वेदों का समुचित उपवृंहण करना चाहता है, उसके लिए पुराणों का जानना अत्यावश्यक है। एक पुराण में यह कहा गया है कि जो पुराणों और उपनिषदों को भली प्रकार से नहीं जानता है, वह विचक्षण नहीं हो सकता है। इतिहास और पुराण से ही वेद का उपवृंहण हो सकता है और वेद को जानने के यही साधन हैं। इसलिए यह भी कहा गया है कि जो अल्पश्रुत है, वेद उससे डरते हैं कि कहीं यह मेरी प्रताडना न करे-

योऽधिचतुरोवेदान् सांगोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविधान्नैव स स्याद् विचक्षणः।।
इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति[१]।।

इसके अतिरिक्त पुराण-विषयों पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो हम यह भी कह सकते हैं कि पुराणों की रचना का उद्देश्य विविध देवताओं के महत्व का स्थापन करना और उन देवों के आधार पर तद्-तद् सम्प्रदायों के विचारों का प्रसार करना भी एक उद्देश्य था। पुराणों ने अपनी विविध कथाओं के माध्यम से समाज में अनेक प्रकार के सन्देश दिए और समय-समय पर वे समाज के संस्कार में उपयोगी सिद्ध हुए। पुराण विविध आचार, नीति, दर्शन, वर्ण, आश्रम तथा धर्म के रूप का भी आख्यान करते हैं।

---

१. वा. पु., पृ. २१

## ब्रह्म पुराण

विष्णु पुराण का यह अभिमत है कि अठारह पुराणों के क्रम में ब्रह्म पुराण सभी में प्रथम रूप से परिगणित है। किन्तु एक अन्य सन्दर्भ से यह कहा गया है कि यह प्रथम पुराण न होकर पाँचवाँ पुराण है। इस पुराण में २४५ अध्याय और १४००० श्लोक हैं, इस पुराण की विषयानुक्रमणिका इसप्रकार की है। इसके पूर्व भाग में दक्ष प्रजापति का वर्णन, दैत्य और दानव उत्पत्ति, सूर्य वंश और सोमवंश का वर्णन, रामावतार कथा, कृष्णचरित, पार्वती-आख्यान और उत्तर भाग में तीर्थ यात्रा वर्णन संकलित हैं[१]।

मत्स्य पुराण में यह सन्दर्भ आया है कि पुराण अठारह हैं और इनकी रचना द्वापर युग में उत्पन्न हुए व्यास भगवान् ने की थी[२]। जहाँ तक ब्रह्म पुराण का प्रश्न है तो पुराणों की गणना में यह प्रथम पुराण है और इसमें तेरह हजार श्लोक हैं[३]।

ब्रह्म पुराण के विषय में यह कहा जाता है कि पहले यह पुराण, ब्रह्म माहात्म्य सूचक था किन्तु अब इसे वैष्णव पुराण के रूप में जाना जाता है। इसका कारण यह कहा जाता है कि इसमें भगवान् विष्णु के अवतारों और उनकी विशेषताओं का वर्णन किया गया है। इसमें भगवान् जगन्नाथ जी का माहात्म्य भी विस्तार से दिया गया है। इसी के साथ ही यह पुराण भगवान् सूर्य के माहात्म्य को भी विस्तार से कहता है और उनके व्यापक प्रभाव का कथन करता है[४]। इसमें सांख्य योग के माध्यम से दार्शनिक भावों का विवेचन और भक्ति की महिमा का बखान भी किया गया है।

---

१. इ. पु. सा. इ., पृ. १०५
२. व्यासरूपमहंकृत्वा संहरामि युगे युगे। म. पु., पृ. २१२
३. ब्राह्मं त्रिदश साहस्त्रं पुराणं परिकीर्त्यते। वही, पृ. २१३
४. पु. त. मी., पृ. १११

## पद्म पुराण

पद्म पुराण एक विशालकाय ग्रन्थ है। इस पुराण को पाँच खण्डों में विभाजित किया गया है। वे खण्ड हैं- सृष्टिखण्ड, भूमिखण्ड, स्वर्गखण्ड, पातालखण्ड और उत्तरखण्ड। इस पुराण में लगभग ५५००० श्लोक संकलित हैं[१]।

इस पुराण के प्रथम खण्ड में ८२ अध्याय हैं। इसमें समुद्र मन्थन की कथा, पुलस्त्य द्वारा कहा गया पुष्कर माहात्म्य, वामन भगवान् के अवतार की कथा, तीर्थों का माहात्म्य, कर्मयोग निरूपण की कथा है। इस पुराण में शकुन्तला की कथा के प्रारम्भिक सूत्र हैं और विक्रमोर्वशीय नाटक के कथा बीज भी प्राप्त हैं। इस पुराण के पाताल खण्ड में रामायण की कथा का भी विस्तार से उपक्रम किया गया है। इसमें रामचरित के जिस आख्यान के कथा सूत्र हैं, वे भवभूति के उत्तर रामचरित से मिलते जुलते हैं। कालिदास और भवभूति के नाटकों के कथासूत्र मिलने से इस पुराण को उत्तर कालीन लगभग सातवीं शताब्दी का सिद्ध करते हैं[२]।इस पुराण को वैष्णव सम्प्रदाय का पुराण कहा गया है जिसमें जालन्धर कथा और पर्वतोपाख्यान की कथाएँ भी संकलित हैं।

पद्म पुराण की एक विशेषता यह है कि इसमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक भक्ति की महिमा का गायन किया गया है, सम्पूर्ण पद्म पुराण का अभिप्राय भगवत् स्मृति, भगवद् भक्ति, भगवत्तत्त्वज्ञान ही है। इसी पथ से जीव कृतकृत्य होकर मुक्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त जीव की मुक्ति का साधन अन्य कोई नहीं है। इसी प्रकार से इस पुराण में रूप, नाम, लीला और धाम को भी ब्रह्म की ही भाँति कहा गया है। भक्ति वर्णन में इस पुराण को जितनी महत्ता है, उतनी महत्ता अन्य किसी पुराण को नहीं प्राप्त है।

---

१. प्रथमं सृष्टि खण्डं हि भूमिखण्डं द्वितीयकम्। तृतीयं स्वर्गखण्डं च पातालं तु चतुर्थकम्।
२. पंचमं चौत्तरं खण्डं सर्वपाप प्रणाशनम्।। पु. त. भी., पृ. ११९
३. इ. पु. सा. इ.,पृ. १०६, पादमं तत् पंच पंचाशत सहस्त्राणीह पठ्यते। पु. त. भी., पृ. ११८

## विष्णु पुराण

पुराणों के परिचय के क्रम में विष्णु का परिचय देते हुए मत्स्य पुराण में यह कहा गया है कि महर्षि पराशर ने वाराह कल्प के वृतान्त का आश्रय लेकर जिन सम्पूर्ण धर्मों का वर्णन किया है, उनसे युक्त पुराण को वैष्णव पुराण कहा जाता है। विद्वान् इसका प्रमाण तेईस हजार श्लोकों का देते हैं। जो मनुष्य आषाढ़ मास की पूर्णिमा को घृत धेनु युक्त इस पुराण का दान करते हैं, उनकी आत्मा पवित्र हो जाती है। और वह वरुण लोक में जाता है[१]। यदि विष्णु धर्मोत्तर पुराण को इससे पृथक् माना जाता है तो फिर इसमें साढ़े पाँच हजार श्लोकों का ही प्रमाण है[२]।

इस पुराण के दो खण्ड हैं जिसमें से प्रथम खण्ड को ही विष्णु पुराण कहा जाता है। इसका द्वितीय खण्ड विष्णु धर्मोत्तर पुराण है। विष्णु पुराण के छह अंश बताए गए हैं। इसमें लगभग छह हजार श्लोक हैं। इसके विषयों में सर्ग वर्णन, समुद्रमन्थन, ध्रुव चरित, प्रहलाद चरित, सप्तसर्ग निरूपण, भुवनकोश वर्णन, ऋषभचरित, सूर्य और चन्द्रवंश की वंशावली और कलिवर्णन, ब्रह्म विद्या सम्बन्धी आख्यानों के साथ-साथ साररूप में कृष्ण चरित वर्णित है।

साहित्यिक और सारल्य की दृष्टि से भी इस पुराण की बड़ी महत्ता है। इसकी भाषा बड़ी ही सरल है किन्तु साहित्यिक सौन्दर्य अपूर्व है। दर्शन के अद्भुत कथन सरलता के साथ और सुन्दरता के साथ इसमें पिरोए गए हैं। इसी कारण यह पुराण एक महत्त्व शील पुराण है।

---

१. वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः। यत् प्राह धर्मानखिलान् तद्युक्तं वैष्णवं विदुः। तदाषाढे च यो दधात् घृतधेनुसमन्विततम्। पौर्णमास्यां विपूतात्मा स पदयाति वारूणम्।। त्रयोविंशतिसाहस्त्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः।। म. पु., पृ. २१३

२. वही, फुट नोट, पृ. २१३

## शिव पुराण

पुराण-निर्देश की जो सूची प्राप्त होती है उसमें यह मत भिन्नता है कि शिव पुराण अथवा वायु पुराण में से किसे प्रथम क्रम में परिगणित कर दिया जाए। किन्तु अधिकतम संख्या में यह मान्यता ही मान्य है कि शिव पुराण एक महत्त्वपूर्ण पुराण है और इसे ही महत्त्व की दृष्टि से वायु पुराण की अपेक्षा गणनाक्रम में पूर्व पुराण के रूप में माना जाना चाहिए। एक मत यह दिया गया है कि इस पुराण को वायु ऋषि ने कहा था इसलिए इसका दूसरा नाम वायु पुराण प्रचलित हो गया है[१]।

मत्स्य पुराण में यह कहा गया है कि श्वेतकल्प के प्रसंगवश वायु ने इस मर्त्यलोक में जिन धर्मों का वर्णन किया था, उनका संकलन जिसमें हुआ है, उसे वायु पुराण कहा जाता है। वह शंकर जी के माहात्म्य से परिपूर्ण है। इस पुराण की श्लोक संख्या चौबीस हजार बताई गई है[२]। पुराण गणना में चौथे नम्बर पर कहीं शिव पुराण तथा कहीं-कहीं वायु पुराण की गणना की जाती है। शिव पुराण में भी एक संहिता वायवीय संहिता है। इस कारण सम्भवत: वायु पुराण को शिव पुराण कहते हैं[३]। एक मत यह भी है कि शिव पुराण तथा वायु पुराण दो भिन्न पुराण हैं और इन दोनों को महापुराण कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक द्वापर युग में पुराणों का विभाग हुआ है इसलिए किसी युग में शिव पुराण और किसी युग में वायु पुराण माना गया है[४]।

वेंकटेश्वर प्रेस से मुद्रित शिव पुराण में सात संहिताएँ संकलित हैं ये हैं- विद्येश्वर संहिता, रुद्र संहिता, शतरुद्र संहिता, कोटिरुद्रसंहिता, कैलाससंहिता, वायवीय संहिता। इनमें से प्रथम खण्ड सृष्टि खण्ड, सती खण्ड, पार्वती खण्ड, कुमार खण्ड और युद्ध खण्ड हैं। वायवीय संहिता में एक पूर्व खण्ड और एक उत्तरखण्ड हैं।

---

१. पु. त. मी., पृ. १२८

२. श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत्।
यत्र तद् वायवीयं स्याद् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्।।
चतुर्विंशतिसाहस्त्राणि पुराणं तदि होच्यते।। म. पु., पृ. २१३

३. वही, फुट नोट, पृ. २१४



४. पु. त. मी., पृ. १२८

इस पुराण में ही यह संकेत आया है कि वेदों के साथ-साथ सत्रह पुराणों और महाभारत जैसे महाग्रन्थ की रचना के पश्चात् भी जब महर्षि वेदव्यास को आत्मिक शान्ति नहीं प्राप्त हुई थी, तब उन्होंने नारद जी से इस सन्दर्भ में अपनी जिज्ञासा व्यक्त की थी और पूछा था कि महाराज! इस प्रकार के विशिष्ट ग्रन्थों की रचना करने के पश्चात् भी मेरे मन में शान्ति क्यों नहीं आई। तब इसके उत्तर में महर्षि ने कहा था कि भगवान् श्री कृष्ण की प्रीति को विवर्धित करने वाले ग्रन्थ की रचना करने के बाद ही आप को मन: शान्ति मिलेगी[१]। इसी के बाद ही वेद व्यास जी ने श्रीमद्भागवत की रचना की थी। इससे यह संकेत मिलता है कि सम्भवत: श्रीमद्भागवत की रचना सभी पुराणों के बाद में हुई होगी-

अस्त्येव मे सर्वविदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिता:।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुपवर्णिता:[१]।।

श्रीमद् भागवत इसलिए एक विशिष्ट पुराण है क्योंकि यह न केवल वैष्णव दर्शन की प्रस्तुति में अपूर्व कृति है अपितु इसकी भाषा और शैली भी परिपुष्ट है। इस पुराण में जिस प्रकार से भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों का अनुकथन किया गया है, उससे सहज ही मनुष्य के हृदय में भक्तिभाव का संचरण होता है। यही कारण है कि भक्ति के उद्रेक में भी श्रीमद्भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी तुलना अन्य कोई पुराण नहीं कर सकता है।

---

१. भा. म. पु., पृ. ५५

## स्कन्ध तथा अध्याय

यह पुराण बारह स्कन्धों का ग्रन्थ है। इन स्कन्धों के विषय में यह कहा जाता है कि ये स्कन्ध भगवान् श्रीकृष्ण के अंगों के रूप में हैं। इससे सामान्य जन जब श्रीमद् भागवत की कथा स्कन्धों के क्रम से सुनता है तब वह उसी क्रम से श्रीकृष्ण के स्वरूप का अनुशीलन भी करता चलता है। इन बारहों स्कन्धों में श्रीभगवान् के जिस स्वरूप का वर्णन है उसके अनुसार इसके प्रथम और द्वितीय स्कन्ध चरणकमल, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध भगवान् की जंघाएँ, पाचवाँ स्कन्ध भगवान् की नाभि, छठा स्कन्ध भगवान् का वक्षस्थल, सातवाँ और आठवाँ स्कन्ध भगवान् की दोनों भुजाएँ, नवाँ स्कन्ध भगवान् का कण्ठ, दसवाँ स्कन्ध भगवान् का ललाट और बारहवाँ स्कन्ध भगवान् की मूर्धा कहा गया है-

पादौ यदीयौ प्रथमद्वितीयौ तृतीयतुर्यौ कथितौ यदूरु।
नाभिस्तथा पंचम एव षष्ठो भुजान्तरं दोर्युगलं तथान्यौ।।
कण्ठस्तु राजन्! नवमो यदीयो मुखारविन्दं दशमं प्रफुल्लम्।
एकादशो यश्च ललाटपट्टं शिरोऽपि यद् द्वादश एव भाति।।
नमामि देवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम्।
अपारसंसारसमुद्रसेतुं भजामहे भागवतस्वरूपम्[१]।।

जहाँ तक श्रीमद्भागवत में ग्रथित अध्यायों का प्रश्न है तो इस सम्बन्ध में आचार्यों और इतिहास विदों में परस्पर मत भिन्नता है। एक मत के आचार्य यह कहते हैं कि इस महापुराण में तीन सौ पैंतीस अध्याय थे। दूसरे मत के आचार्यों का यह कहना था कि इसमें तीन सौ बत्तीस अध्याय ही थे[२]।

---

१. पु. त. मी. से उद्धृत, पृ. १४६-१४७
२. वही, पृ. १४७

## समय

श्रीमद्भागवत् के रचना समय को लेकर भी अनेक प्रकार के मतभेद हैं। मिताक्षरा, अपरार्क, कल्पतरू, स्मृतिचन्द्रिका जैसे सन्दर्भों में श्रीमद्भागवत से कोई उदाहरण नहीं लिया गया है। श्री एस.एस. शास्त्री यह मत व्यक्त करते हैं कि श्रीमद्भागवत की रचना का समय सम्भवतः पाँचवी शताब्दी से दसवीं शताब्दी के बीच का रहा होगा क्योंकि इसकी रचना श्री देवी भागवत पुराण के बाद हुई है[१]। श्री बी.एन. कृष्णमूर्ति का यह कथन है कि श्रीमद्भागवत की रचना का समय पाँचवी शताब्दी माना जा सकता है। श्रीवामन पाण्डुरंग काणे यह अभिमत देते हैं कि भागवत महापुराण एक पश्चाद् वर्ती पुराण है क्योंकि कल्पतरु के मोक्षकाण्ड में इसका उल्लेख नहीं हुआ है जबकि उसी स्थल पर विष्णु पुराण के तीन सौ श्लोक उदृधृत किए गए हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि श्रीमद्भागवत को नवीं शताब्दी के पूर्व का मानना औचित्यप्रद नहीं है[३]।

इस पुराण के रचनाकाल के संबंध में यह कहा जाता है कि तेरहवीं शताब्दी के आचार्य शंकरानन्द ने गीता की तत्वार्थबोधिनी टीका में श्रीमद्भागवत के श्लोक उद्धृत किए हैं। इसी तरह से सांख्य कारिका पर माठरवृत्ति लिखने वाले आचार्य ने भी अपनी वृत्ति में श्रीमद्भागवत के श्लोक उदृधृत किए हैं। माठर का समय ५७७ से ५६७ के बीच का माना जाता है। इससे श्रीमद्भागवत पुराण को छठी शताब्दी के पूर्व का रचित माना जा सकता है। श्रीमद्भागवत महापुराण पर जिनकी परम आस्था है वे यह मानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम पधारने के बाद तीस वर्ष कलियुग बीत जाने पर श्री शुकदेव जी महाराज ने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत की कथा सुनाई थी। इसलिए यह मत माना जा सकता है कि दो सौ साठ वर्ष कलयुग के बीत जाने पर सनत्कुमार ने नारदजी को यह कथा सुनाई थी[४]।

---

१. ए. बी. ओ. आर. आई. जिल्द १४, पृ. २४१-२४९

२. वही, पृ. १८२-२१८

३. ध. इ. (१), पृ. ४१९

४. पु. त. मी., पृ. १६३-१६४

## नारद पुराण

नारद पुराण में पूर्व और उत्तर दो खण्ड हैं। इसके पूर्व खण्ड में चार पाद तथा १२५ अध्याय हैं। इस पुराण के उत्तर खण्ड में ८२ अध्याय हैं। मत्स्य पुराण में यह संकेत आया है कि जिस ग्रन्थ में नारद ने वृहत् कल्प प्रसंग में अनेक धर्म कथायें कहीं वही नारद पुराण है। इसमें २५००० श्लोक हैं[१]। यह पुराण दो भागों में विभक्त है, इसके पूर्व भाग में १२५ अध्याय और उत्तर भाग में ८२ अध्याय हैं। इसका पूर्व भाग चतुराश्रमों और चारों वर्णों का वर्णन करता है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में वेदाङनिरूपण, मोक्ष वर्णन, गणेश और सूर्य के स्त्रोत, पुराण लक्षण, दान विधि तथा अन्य व्रतों का निरूपण है। इस पुराण के उत्तर भाग में एकादशी व्रत का वर्णन, वशिष्ठ मान्धाता का संवाद, गंगावतरण, काशी का महत्त्व तथा अन्य तीर्थों के माहात्म्य के साथ-साथ मोहिनी चरित आदि का वर्णन है।

## मार्कण्डेय पुराण

मत्स्य पुराण में यह वर्णन आया है कि जिस पुराण में पक्षियों का आश्रय लेकर एक मुनि के प्रश्न करने पर धर्मचारी मुनियों द्वारा धर्म और अधर्म के विचार का जो व्याख्यान दिया गया है उन सबका महर्षि मार्कण्डेय ने पुन: विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, इसे ही लोक में मार्कण्डेय पुराण के नाम से जाना जाता है। इसकी श्लोक संख्या नौ हजार है और इसके भी दान देने की महत्ता है[२]।

---

१. यत्राह नारदो धर्मान् वृहत्कल्पाश्रयाणि च।
पंचविंशतिसहस्त्राणि नारदीयं तदुच्यते।। म. पु., पृ. २१४

२. यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्माधर्मविचारणा।
व्याख्याता वै मुनिप्रश्ने मुनिभिर्धमचारणै:।।
मार्कण्डेयेन कथितं तत् सर्वं विस्तरेण तु।
पुराणं नवसाहस्त्रं मार्कण्डेयमिहोच्यते।। वही, पृ. २१४

मार्कण्डेय पुराण में अन्य विषयों के साथ-साथ जो एक विशिष्ट ग्रन्थ समाहित है, वह है- दुर्गासप्तसती। इसमें जगत् जननी माता के पवित्र चरित्र का वर्णन किया गया है। यह चरित मार्कण्डेय पुराण के ७८ वें अध्याय से लेक ९० अध्याय तक १३ अध्यायों में वर्णित है। यह एक ऐसा चरित है जो सनातन धर्मावलम्बियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है और शक्ति की उपासना का एक अद्भुत ग्रन्थ है। चैत्र नवरात्र तथा आश्विन की नवरात्रि में इसका पाठ होता है और इन नवरात्रों को बड़ी श्रद्धा तथा उल्लास से मनाया जाता है।

आचार्य शंकर, वाणभट्ट तथा आचार्य मयूर आदि ने अपने अपने ग्रन्थों में मार्कण्डेय पुराण के पद्यों को प्रामाणिक रूप से उद्धृत किया है। इस ग्रन्थ में किसी प्रकार का कोई साम्प्रदायिक स्वरूप देखने को नहीं मिलता है। यही कारण है कि वे सम्प्रदाय, जो नास्तिकवादी बौद्ध आदि हैं, इस पुराण का आदर करते हैं।

मार्कण्डेय पुराण में मदालसा के चरित के माध्यम से सती स्त्रियों की महिमा का गुणगान किया गया है। इस पुराण में अनेक कथाओं के साथ-साथ श्राद्ध कर्म का वर्णन विधानपूर्वक किया गया है और मृत्यु के उपरान्त किस प्रकार के कर्मों से जीव बन्धन मुक्त होता है-इसका निरूपण किया गया है। इस पुराण में अनेक ऐसी कथाएँ हैं, जो अन्य पुराणों में प्राप्त नहीं होती।

**अग्नि पुराण**

जिस पुराण में ईशानकल्प के वृत्तान्त को लेकर अग्नि ने महर्षि वशिष्ठ के प्रति उपदेश किया है, उसे अग्नि पुराण कहते हैं। इसमें सोलह हजार श्लोकों का प्रमाण है[१]।

---

१. यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च।
वसिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत् प्रचक्षते।। म. पु., पृ. २१४

ब्रह्मा के मानस पुत्र मरीचि ने द्वादश वार्षिक सत्र में अग्नि को जो धर्मानुष्ठान का उपदेश किया था, उसी के आधार पर इस पुराण का ग्रन्थन हुआ है। इसकी श्लोक संख्या १५००० कहीं गई है। स्कन्दपुराण में यह चर्चा आई है कि अग्नि के महत्त्व का प्रतिपादन करना ही अग्नि पुराण का उद्देश्य है। इस समय अग्नि पुराण और बह्नि पुराण के नाम से दो पुराण प्राप्त होते हैं। दोनों पुराणों के विषयों में काफी कुछ समानता भी है। इस पुराण के वक्ता अग्नि हैं और श्रोता महर्षि वशिष्ठ हैं। इस पुराण को भारतीय विधाओं का विश्वकोष कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय विधाओं का प्रचार करना इस पुराण का प्रमुख उद्देश्य है। इस पुराण में कुछ ऐसे विशिष्ट विषय हैं जो व्यावहारिक और तार्किक हैं। जैसे अनेक प्रकार के मन्दिर निर्माण की कला, मूर्ति प्रतिष्ठा तथा विविध पूजन पद्धतियाँ उपवेद, वेदाङ्ग और दार्शनिक विषयों के समावेश के साथ-साथ इस पुराण में पशु चिकित्सा, धर्मशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की चर्चा भी है। इसमें व्याकरण के नियमों का प्रयोग, काव्य का शिल्प और छन्द विधान की अद्भुत छटा देखने को मिलती है।

इस पुराण में कौमार व्याकरण नाम का व्याकरण भी संकलित है। इसमें लिंगानुशासन, एकाक्षर कोश और योगशास्त्र के विविध अंगों का निदर्शन है। इसके अध्ययन से अनेक ऐसे ज्ञान, शिल्प और कर्म के प्रयोगों का पता चलता है कि इस पुराण को भारतीय विधाओं का कोश कहा जाता है। किसी विद्वान् ने इस पुराण की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए यह लिखा है कि -

'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः'।

अर्थात् अग्नि पुराण में सभी विद्यायें प्रदर्शित हैं।

## भविष्य पुराण

मत्स्य पुराण में यह सन्दर्भ आया है कि जिस ग्रन्थ में चतुर्मुख ब्रह्मा का माहत्म्य वर्णन करके अघोरकल्प वृत्तान्त के प्रसंग में जगत की स्थिति और भूतग्राम का लक्षण कहा गया है और जिसमें अधिकतम मात्रा में भविष्य चरित वर्णित है, वह भविष्य पुराण है[१]।

इस पुराण को पाँच पर्वों में विभक्त किया गया है। ये पर्व हैं-ब्राह्म पर्व, वैष्णव पर्व, शैव पर्व, सौर पर्व तथा प्रतिसर्ग पर्व। इस पुराण में कुल ६०५ अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या १४००० है।

इस पुराण की विषय वस्तु ही अद्भुत है। इसमें अनेक ऐसी कथाएँ हैं जो आधुनिक प्रतीत होती हैं और जिनके विषय में यह सन्देह होता है कि क्या इनकी रचना भी वेद व्यास ने की है? यद्यपि इस सन्देह का निवारण यह कहकर किया जाता है कि महर्षि व्यास त्रिकालज्ञ होने के कारण भविष्य द्रष्टा थे, इसलिए उन्होंने भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का उल्लेख भी किया है।

भविष्य पुराण की विषय वस्तु में शाकद्वीपी ब्राह्मणों का परिचय बड़े ही विस्तार से दिया गया है। इस पुराण में इसी तरह से सृष्टि की उत्पत्ति और पृथिवी के भूगोल का वर्णन भी विस्तार से हैं। सूर्य की उपासना और उनके लिए विविध रंगों के पुष्पों का चढ़ाना तथा उससे विविध कामनाओं की पूर्ति का वर्णन इस पुराण में है। इस समय चार भविष्य पुराण उपलब्ध हैं। इनमें से चतुर्थ पुराण की अपेक्षा प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुराण प्राचीन है। तृतीय भविष्य पुराण में उद्भिज विद्या का वर्णन आधुनिक विज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण है।

---

१. यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः।
अघोरकल्पवृत्तान्तप्रसंगेन जगत् स्थितम्।।
मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम्।
चतुर्दशसहस्त्राणि तथा पंच शतानि च।।
भविष्यचरितप्रायं भविष्यं तदिहोच्यते।। म.पु., पृ. २१५

## ब्रह्मवैवर्त पुराण

इस पुराण के नामकरण के पीछे दार्शनिक विचारधारा की पृष्ठभूमि कही जाती है। ऐसा संकेत स्वयम् ही इस पुराण में किया गया है[१]। मत्स्य पुराण में यह लिखा गया है कि जिसमें रथन्तर कल्प के वृत्तान्त का आश्रय लेकर सावर्णि मनु ने नारद जी के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण के श्रेष्ठ माहात्म्य का वर्णन किया है तथा जिसमें ब्रह्मवराह का वृत्तान्त बार-बार वर्णित है उसे ब्रह्मवैवर्त पुराण कहते हैं। इसमें अठारह हजार श्लोक हैं। जो मनुष्य माघ मास की पूर्णिमा में इस पुराण का दान करता है, वह ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है[२]।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में चार खण्ड हैं। ब्रह्मखण्ड, प्रकृतिखण्ड, गणेशखण्ड और श्रीकृष्णजन्मखण्ड। इस पुराण के आधे भाग में तीन खण्ड हैं और आधे से कुछ अधिक में श्री कृष्ण जन्म का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध खण्ड है। जिस परब्रह्म परमात्मा का ध्यान वैष्णवजन करते हैं, उस ब्रह्म का वर्णन ब्रह्मखण्ड में किया गया है।

इस पुराण के प्रकृतिखण्ड में देवियों का चरित्र, जीवों का कर्मविपाक, शालिग्राम का वर्णन, स्तोत्र, पूजा और मन्त्र विधान का वर्णन किया गया है। गणेशखण्ड में गणेश के जन्म तथा चरित्र का वर्णन, गणेश और भृगुसम्बाद, गुप्त मन्त्रों का प्रस्तवन तथा कवच का निदर्शन है। श्रीकृष्ण खण्ड में श्रीकृष्ण का जन्म, कर्म, सज्जनों की मर्यादा का रक्षण और राधा के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

---

१. विवृतं ब्रह्मकात्स्येन कृष्णेन यत्र शौनकः।
ब्रह्मवैवर्तकं तेन प्रवदन्तिपुराविदः।। ब्र. वै. १/१/१०

२. रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च।
सावर्णिना नारदाय च कृष्णमाहात्म्यमुत्ततम्।
यत्र ब्रह्मवराहस्य उदन्ति वर्णितं मुहुः।
तदष्टादशसाहस्त्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते।। म. पु.,पृ.२१५

## लिंग पुराण

मत्स्य पुराण में लिंग पुराण का लक्षण देते हुए यह कहा गया है कि जिसमें कल्पान्त के समय अग्नि का आश्रय लेकर देवाधि देव महेश्वर ने अग्निलिंग के मध्य में स्थित रहते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का उपदेश किया है, उस पुराण को लिंग पुराण के नाम से अभिहित किया गया है। इसमें ग्यारह हजार श्लोक हैं।

लिंग पुराण के दो भाग हैं। एक पूर्व भाग और दूसरा उत्तर भाग। इसमें प्रमुख रूप से योगाख्यान, कल्पाख्यान, लिंगोत्पत्ति, लिंग की उपासना, सनत्कुमार-पर्वत संवाद, दधीचि चरित, युग धर्म, शैव अवतारों और व्रतों का वर्णन तथा तीर्थों का वर्णन किया गया है।

लिंग पुराण में शिवलिंग का वर्णन विधिपूर्वक किया गया है। इसमें भगवान् शिव के द्वारा सृष्टि के उत्पत्ति के क्रम को कहा गया है। इस पुराण में भगवान शंकर से सम्बन्धित अठाईस अवतारों तथा उनके कथा-व्रतों का विशेष वर्णन है। इसमें शैव दर्शन के ही अनुकूल पशु, पाश तथा पाशुपत शब्दों की सुन्दर विवेचनात्मक व्याख्या की गई है। इस पुराण में अग्निकल्प की कथा का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है किन्तु लिंग पुराण के प्रतिपाद्य विषय के साथ-साथ अग्निमय लिंग का विवरण दिया गया है। यद्यपि यह साम्प्रदायिक आक्षेप नहीं करता किन्तु इसमें कुछ वर्णन ऐसा अवश्य है जो साम्प्रदायिक विद्वेष को सूचित करता है।

---

१. यत्राग्निलिंगमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः।
धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमाधिकृत्य च।।
कल्पान्ते लैङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम्।
तदेकादशसाहस्त्रं फाल्गुन्यां यः प्रयच्छति।। म. पु., पृ. २१५

## वराह पुराण

मत्स्य पुराण में वराह के सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि जिसमें मानवकल्प के प्रसंगवश पुन: महावराह के माहात्म्य का आश्रय लेकर भगवान् विष्णु ने पृथिवी के प्रति उपदेश दिया है उसे भूतल पर वराह पुराण कहते हैं[१]।

नारद पुराण में वराह पुराण के सन्दर्भ में जो कहा गया है, उसके अनुसार इसे भगवान् विष्णु के माहात्म्य का सूचक बताया गया है। इस प्रसंग में इसके प्रस्तोता के रूप में नारायण रूप व्यास का नाम लिया गया है और इसमें चौबीस हजार श्लोकों की संख्या बताई गई हैं[२]।

इस समय जो वराह उपलब्ध है उसमें १७००० श्लोक ही प्राप्त हैं। जबकि पूर्व उद्धरणों में यह कहा गया है कि इसमें चौबीस हजार श्लोक प्राप्त होने चाहिए। इस पुराण में भगवान् विष्णु से सम्बन्धित अनेक प्रकार के व्रतों का उल्लेख किया गया है। इसके दो अंश विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इसका एक अंश मथुरा माहात्म्य है जिसमें मथुरा क्षेत्र के सभी तीर्थों का वर्णन किया गया है। इसका दूसरा अंश नचिकेतोपाख्यान है जिसमें यम और नचिकेता की कथा के साथ साथ स्वर्ग और नर्क का विवेचनात्मक वर्णन किया गया है अन्य अनेक कथानकों और आख्यानकों की दृष्टि से यह तो कहा जा सकता है कि यह पुराण महत्त्वपूर्ण है किन्तु इसका उत्तरार्ध अप्राप्त होने से यह अपूर्ण है।

---

१. महावराहस्य पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च।
विष्णुनाभिहितं क्षोण्यै तद्वाराहमिहोच्यते।।
मानवस्य प्रसंगने कल्पस्य मुनिसत्तमा:।
चतुर्विंशसहस्त्राणि तत्पुराणमिहोच्यते।। म. पु., पृ. २१५

२. श्रृणुवत्स प्रवक्ष्यामि वाराहं वै पुराणकम्।
भागद्वययुतं शश्वद् विष्णुमाहात्म्यसूचकम्।।
व्यासो हि विदुषां श्रेष्ठ: साक्षान्नारायणो भुवि।। ना. पु., १०३ वाँ अध्याय

## स्कन्द पुराण

मत्स्य पुराण में यह कहा गया है कि जिसमें कल्पान्त के समय स्वामिकार्तिकेय ने माहेश्वर धर्मों का आश्रय लेकर शिव जी के सुशोभन चरित्रों से युक्त वृत्तान्त का वर्णन किया है, उस पुराण का नाम स्कन्द पुराण है[१]।

स्कन्द पुराण के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इस पुराण का सम्बन्ध अति प्राचीनता से है क्योंकि इसका सम्बन्ध देवर्षि नारद के गुरु सनत्कुमार ऋषि से है। इन्हीं का नाम स्कन्द कुमार अथवा कार्तिकेय था। किन्तु इस पुराण की भाषा और शैली आधुनिक है जिससे इसका प्राचीन पुराण होने का निश्चय संशयात्मक हो जाता है।

स्कन्द पुराण में इक्यासी हजार श्लोक प्राप्त होने का संकेत किया गया है और इसके सात खण्ड बताए गए हैं। इन खण्डों में माहेश्वर, वैष्णव, ब्रह्म, काशी, रेखा और प्रभासखण्ड सम्मिलित हैं। इसका अन्य विभाग संहिता के रूप में मिलता है- सनत्कुमार संहिता, सूत संहिता, वैष्णव संहिता, ब्राह्म संहिता तथा सौर संहिता।

इस समय सम्पूर्ण पुराण उपलब्ध न होकर केवल खण्ड मात्र में ही उपलब्ध है, फिर भी इसमें अनेक व्रतों और तीर्थों का विस्तार से वर्णन है। इस पुराण की महत्ता के विषय में यह कहा जाता है कि इसका अध्ययन मध्यकालीन भारत के इतिहास के ज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण है। भारतीय भूगोल का ज्ञान भी इस पुराण के अध्ययन से पर्याप्त मात्रा में हो सकता है।

---

१. यत्र माहेश्वरान् धर्मान् अधिकृत्य च षण्मुखः।
कल्पेतत्पुरुषं वृत्तं चरितैरुपवृहंतम्।।
स्कान्दं नाम पुराणं च ह्येकाशीति निगद्यते।
सहस्त्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु गद्यते।। म. पु., पृ. २१६

## वामन पुराण

जिसमें ब्रह्मा ने त्रिविकम् के माहात्म्य का आश्रय लेकर त्रिवर्गों का वर्णन किया है, उसे वामन पुराण कहते हैं। इस पुराण में दस हजार श्लोक हैं[१]। एक अन्य सन्दर्भ में भी वामन पुराण का यही लक्षण दिया गया है और वहाँ पर यह कहा गया है कि यह पुराण दो भागों में विभक्त है तथा श्रोता और वक्ता के लिए शुभ प्रदाता है[२]।

इस पुराण के दो भाग हैं- एक पूर्व भाग और दूसरा उत्तर भाग। इसके उत्तर भाग का नाम वृहद् वामन भी है। इसमें चार संहिताएँ हैं। माहेश्वरी संहिता, भागवती संहिता, सौरी संहिता तथा गाणेश्वरी संहिता। इसके प्रत्येक संहिता में एक-एक हजार श्लोक हैं। माहेश्वरी संहिता में श्री कृष्ण और उनके भक्तों का कीर्तन है। भगवती संहिता में जगदम्बा के अवतार की कथा है। सौरी संहिता में पापनाशक भगवान् सूर्य का माहात्म्य वर्णित है। गणेश्वरी संहिता में गणेश जी का चरित्र अंकित है।

वामन पुराण में अन्य कथाओं के साथ-साथ वामनावतार की कथा विस्तृत रूप से वर्णित है। इसमें शिव माहात्म्य, गणेश उत्पत्ति, कार्तिकेय का पावन चरित्र, शिव और शिवा का विवाह सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया गया है। इस समय इस पुराण का केवल पूर्व भाग ही प्राप्त है और इसमें ९५ अध्याय हैं।

---

१. त्रिविक्रमस्य माहात्म्यं अधिकृत्य चतुर्मुखः।
त्रिवर्गमभ्यधात् तच्च वामनं परिकीर्तितम्।। म. पु., पृ. २१६

२. श्रृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं वामनाभिधम्।
त्रिविक्रमचरित्राढयं दशसाहस्त्रसंख्यकम्।
कूर्मकल्पसमाख्यानं वर्गत्रयकथानकम्।
भागद्वयसमायुक्तं वक्तृश्रोतृशुभावहम्।। ना. पु. १०५ वाँ अध्याय

## कूर्म पुराण

मत्स्य पुराण में कूर्म पुराण के विषय में यह लिखा गया है कि जिस पुराण में कूर्म रूपी जनार्दन ने रसातल में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का माहात्म्य इन्द्रद्युम्न के प्रसंग में वर्णित किया है, और जिसमें लक्ष्मी कल्प का विषय है,वह कूर्म पुराण है[1]। कूर्म पुराण भी दो भागों में विभक्त है। इसका एक पूर्व भाग है। और दूसरा उत्तर भाग है, पूर्व भाग में ५३ अध्याय और उत्तर भाग में ९९ अध्याय हैं। इसमें मत्स्य पुराण के अनुसार १८००० श्लोक और नारद पुराण के अनुसार १७००० श्लोक हैं।

कूर्म पुराण चार संहिताओं में विभक्त है- ब्राह्मी संहिता, भागवती संहिता, सौरी संहिता और वैष्णवी संहिता।

इस पुराण की चार संहिताओं में से एक ही संहिता प्राप्त है। शेष तीन संहिताएँ प्राप्त नहीं है। इस पुराण में भगवान् शिव प्रधान देवता के रूप में स्वीकृत हैं। इस पुराण में ब्रह्मा, विष्णु, महेश में किसी प्रकार का अन्तर नहीं माना गया है। इसका हेतु यह कहा गया है कि ये तीनों ब्रह्म की ही मूर्तियाँ हैं। इस पुराण में काशी और प्रयाग का माहात्म्य भी विस्तार से वर्णित है। इसके उत्तर भाग में ईश्वर गीता और व्यास गीता ग्रथित है। ईश्वर गीता में श्रीमद्भगवद् गीता के समान ध्यान योग के द्वारा भगवान् शिव के साक्षात्कार का सुन्दर वर्णन है।

---

१. यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले।
माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः।।
इन्द्रद्युम्न प्रसंगेन ऋषिभ्यः शुक्रसन्निधौ।
अष्टादशसहस्त्राणि लक्ष्मीकल्पानुषंगिकम्।। म. पु., पृ. २१६

## मत्स्य पुराण

आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार अश्वमेध यज्ञ के समय इसका पाठ किया जाता था[१]। इस पुराण की प्रामाणिक श्लोक संख्या १४००० है तथा २९१ अध्याय हैं। यह पुराण पंचलक्षण से समन्वित है। इस पुराण में मत्स्य मनु संवाद, ब्रह्माण्डोत्पत्ति, मन्वन्तर कथन, सूर्य वंश और चन्द्रवंश वर्णन, श्राद्ध कल्प तथा व्रत वर्णन, पार्वती चरित और कुमार की उत्पत्ति, तारक का वध तथा भविष्य के राजवंशो का वर्णन है। इस पुराण की एक विशेषता यह है कि इसमें सभी पुराणों का परिचय विस्तार पूर्वक दिया गया है[२]।

इस पुराण की एक विशेषता यह है कि इसका काव्य पक्ष बहुत अधिक सबल है। इसीलिए यह कालिदास के रघुवंश, शाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्र आदि का उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। इस पुराण की महत्ता इसके नीति वचनों से भी है क्योंकि इसके नीति वाक्यों को विष्णु शर्मा ने पंचतंत्र में, नारायण पण्डित ने हितोपदेश में, सोमदेव ने नीति वाक्यामृतम् में तथा शार्ङ्धर आदि ने अपने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। इस पुराण का यह संदेश है कि सबके प्रति प्रेम का व्यवहार, मृदुभाषण ही एक मात्र ऐसा विकल्प है जिससे सभी को अपने वश में किया जा सकता है[३]।

---

१. अष्टमेऽहनिमत्स्य........सामन्दः। मत्स्या पुञ्जिष्ठाः पुराणविद्या वेदाः सोऽयमिति पुराणमाचक्षीत्।
आ. गृ. सू. २/४/७/८

२. इ. पु. सा. इ., पृ. ११५

३. यैराहतः शोचतिरात्र्यहानि।
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः।। म. पु., पृ. १२७

## गरुड़ पुराण

मत्स्य पुराण में यह लिखा है कि विष्णु ने गरुड कल्प में गरुड के उपद्रव के प्रसंग में विश्वाण्ड से आरम्भकर के जिस पुराण का वर्णन किया है उसका नाम गरुड़ पुराण है। इसकी श्लोक संख्या १८००० है। नारद पुराण और मत्स्य पुराण में गरुड पुराण का जो परिचय दिया गया है, उसका लक्षण ठीक-ठीक प्रतीत होता है किन्तु इसकी श्लोक संख्या को लेकर भिन्नता है। गरुड पुराण के दो खण्ड मिलते हैं- एक पूर्व खण्ड और दूसरा उत्तर खण्ड । इसका उत्तर खण्ड जो प्रेतकल्प के नाम से भी जाना जाता है, बहुत अधिक प्रसिद्ध है और समाज में इसका किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के बाद पाठ होता है। इस खण्ड में व्यक्ति के किस कर्म से क्या फल प्राप्त होता है और किस प्रकार उसे नर्क अथवा स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसका वर्णन किया गया है।

गरुड़ पुराण इस दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इसके पूर्व खण्ड में रत्नों का परिचय और उनकी महत्ता का विवरण है। साथ ही इसमें आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति तथा निदान और उपचार का सटीक विवेचन है। बुद्धि को विशुद्ध करने के लिए कौन सी औषधि लाभ दायक है- इसका भी विवेचन इस पुराण में है। मानव चिकित्सा के साथ-साथ पशु चिकित्सा का भी इस पुराण में वर्णन है तथा काव्य दृष्टि से छन्द शास्त्र का विवेचन है।

---

१. यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डाद्गरुडोद्भवम्।
अधिकृत्याब्रवीत् विष्णुः गारुडं तदिहोच्यते।।
तदष्टादशकं चैव सहस्त्राणीह पठ्यते।। म. पु.,पृ. २१७

## ब्रह्माण्ड पुराण

मत्स्य पुराण में यह लिखा हुआ है कि ब्रह्माण्ड का अवलम्बन करके जो पुराण कहा गया है और जिससे ब्रह्मकर्तृक भविष्य कल्प का वृतान्त विस्तार पूर्वक लिखा गया है, वह ब्रह्माण्ड पुराण है। इसकी श्लोक संख्या १२२०० है[१]।

इस पुराण का जैसा नाम है उसी प्रकार की इसकी विषय वस्तु भी है। इसके प्रथम खण्ड में विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बू दीप के पर्वत और नदियों का भी विस्तृत वर्णन इसमें प्राप्त है। विविध द्वीपों का वर्णन भी इस पुराण में वर्णित है।

इस रूप में यह देखा जाता है कि सभी पुराण भारतीय समाज के जीवन को सर्वांशतः प्रमाणित करते हैं। और जन रंजन के साथ-साथ समाज के लिए नीति, आचार, धर्म, संस्कृति, वर्णाश्रम व्यवस्था आदि का निरूपण भी करते हैं।

---

१. ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत् पुनः।
तच्च द्वादशसाहस्त्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम्।।
भविष्याणां च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः।
तद् ब्रह्माण्डपुराणञ्च ब्रह्मणा समुदाहृतम्।। म. पु., पृ. २१७
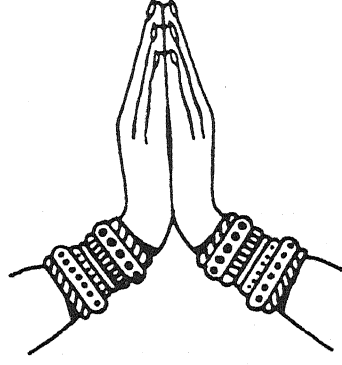
# तृतीय अध्याय

## (पौराणिक वर्णव्यवस्था)
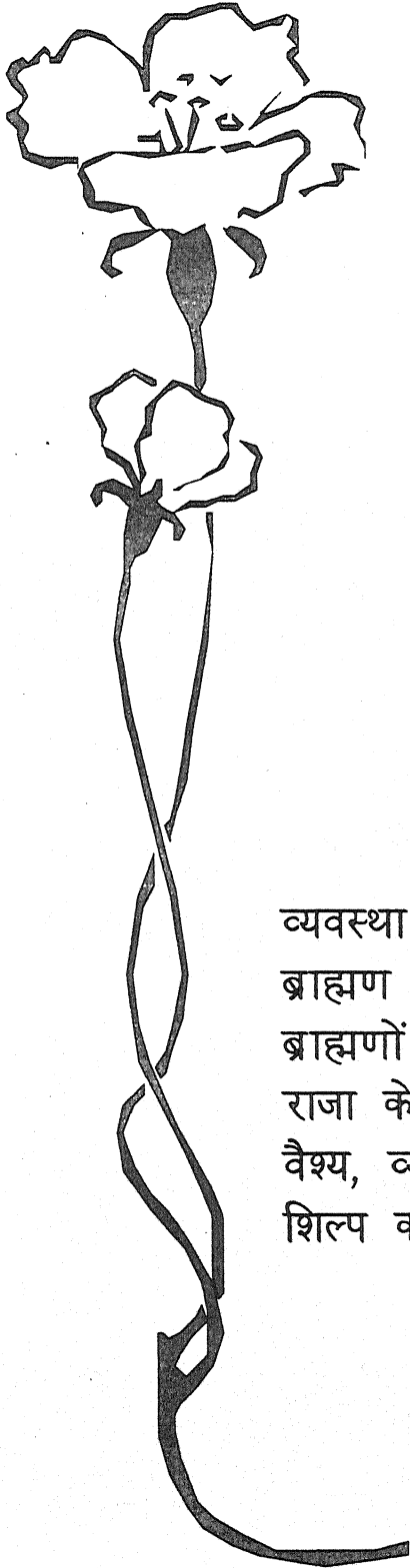
# तृतीय अध्याय

## ( पौराणिक वर्ण व्यवस्था)

वर्ण शब्द का पौराणिक अभिप्राय, वर्ण व्यवस्था के प्रारम्भिक संकेत, वर्णों की संख्या, ब्राह्मण की श्रेष्ठता, वर्ण परिवर्तन के सन्दर्भ, ब्राह्मणों के कर्तव्य, यज्ञ, दान, क्षत्रिय, क्षत्रिय राजा के रूप में, राष्ट्र के प्रति क्षत्रिय का धर्म, वैश्य, व्यापार, कृषि तथा सामाजिक सहयोग, शूद्र, शिल्प कार्यों में शूद्रों की भूमिका।
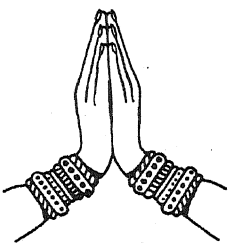
# तृतीय अध्याय
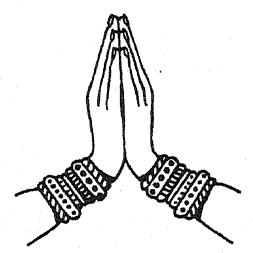
## ( पौराणिक वर्ण व्यवस्था )

**वर्ण शब्द का पौराणिक अभिप्राय**

भारतीय विद्वान् सन्तों और मनीषियों ने योग के माध्यम से केवल अपना ही आत्मिक विकास न करके सृष्टि संरचना के मूल तत्त्वों का अन्वेषण करते हुये समाज के सुव्यवस्थित संचालन के लिये भी विचार किया है। इस सन्दर्भ में यह कहा गया है कि मनुष्य योनि प्राप्त करने के पहले जीव को चौरासी लाख योनियों में जन्म लेना पड़ता है। एक सन्दर्भ में यह लिया गया है कि मनुष्य योनि पाने के पूर्व जीव को बीस लाख बार स्थावर योनि में जन्म लेना पड़ता है। इसके बाद ग्यारह लाख बार कृमि योनि में जन्म लेना पड़ता है। इसके बाद उन्नीस लाख बार अण्डज योनि प्राप्त करनी पड़ती है। तदन्तर चौतीस लाख बार जरायुज योनि में जन्म लेने के बाद मनुष्य योनि मिलती है[१]।

इसके लिए एक रूपक देकर यह बताया गया है कि जिस प्रकार छोटे - छोटे नदी-नाले गंगोत्तरी और यमुनोत्री से ही मिलते हैं और गंगा स्वयं प्रवाहित होकर समुद्र में जा मिलती है, उसी तरह से सम्पूर्ण जीव प्रवृत्ति भी है जो ब्रह्म से प्रादुर्भूत होकर पुनः उसी में विलीन हो जाती है। चौरासी लाख योनियों का भी यही क्रम है, जो बाद में मनुष्य रूप पाकर अपनी सम्पूर्णता पा लेती है[२]।

---

१. स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षं च पक्षिजं दशलक्षकम् ।।
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्ष वानरे।
ततो हिमानुषा जाताः कुत्सितादेर्विलक्षकम्।। (पु.त.मी., पृ. ३६८ से उद्धृत)

२. वही, पृ. ३६८

प्राचीनकालिक मान्यता यह भी है कि मनुष्यों से भिन्न जो भी योनियाँ हैं, वे अपनी इन्द्रियों पर और अपने कार्यकलाप पर नियन्त्रण नहीं रख पातीं। यही कारण है कि मनुष्येतर जीव अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप कार्य करते हैं और उनके क्रियाकलाप में प्रकृति का ही स्वभाव प्रभावी होता है। उनके विवेक और विचार का कोई महत्त्व नहीं होता क्योंकि विवेक और विचार उनमें होता ही नहीं। इसलिए उन जीवों के द्वारा किए गए कर्मों का फल भी उनको नहीं भोगना पड़ता क्योंकि जान-समझकर अकर्म और कर्म में उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। उनकी प्रवृत्ति और उनकी रक्षा आदि भी प्रकृति के स्वाभाविक परिवेश में होती रहती है जिस प्रकार अज्ञ बालक के कार्य की प्रवृत्ति उसके संरक्षक के अनुरूप होती है और कर्म करता हुआ बालक कर्म-अकर्म के फल से अंसपृक्त रहता है, उसी तरह से मनुष्येतर जीव का भी यही स्वरूप और स्वभाव है किन्तु मनुष्य जीवन अपने कर्म के लिए और कर्म-प्रवृत्ति के लिये स्वयं स्वतंत्र है तथा वह जैसा चाहता है वैसा कर्म कर सकता है। इसमें बुद्धि और विवेक का बल होता है।

अपने बुद्धि और विवेक के बल से मनुष्य जो कर्म करता है, वह उस कर्म अथवा अकर्म से प्राप्त होने वाले फल का भी भागीदार होता है। मनुष्य कर्म का सम्पादन ठीक से करे और विकृत कर्म से अपने को बचा कर रखे, यह इच्छा प्राचीन समय में ऋषि-महर्षियों की रही, इसलिए उन्होंने नीति और नियमों का निरूपण किया। इसके लिए उन्होंने मानव कर्म पर विचार किया और इसका पालन करने के लिए समाज को एक व्यवस्था प्रदान की जिसे वर्ण व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है तथा वर्ण का अर्थ वरण करने से लिया जा सकता है।

वर्ण व्यवस्था का संभवतः पौराणिक संकेत ही यही है कि इस क्रम में बँधकर व्यक्ति इस रूप से अपने कर्त्तव्य रूपी धर्म का पालन करे और मनुष्य-जीवन का जो परम कल्याण का मार्ग है उसे प्राप्त करे। यही कारण है कि सभी वर्णों के लिए अपने-अपने कर्त्तव्य रूप धर्म का कथन किया गया है और कहा गया है कि अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान देना और लेने जैसे कर्त्तव्य ब्राह्मण के हैं। इनका पालन करता हुआ ब्राह्मण अपने धर्म का पालन करता है और मनुष्य जीवन का जो श्रेयस्कर मार्ग है उस पर चलकर अपने जीवन में कल्याण का भागीदार बनता है। इसी तरह से अध्ययन, प्राणी की रक्षा और दान देना आदि कर्त्तव्य क्षत्रिय के लिए कहे गए हैं, जिनका पालन करता हुआ क्षत्रिय अपने क्षत्रियत्व को सुरक्षित रखता है।

व्यापार और कृषि के माध्यम से न केवल अपना जीवन चलाना अपितु समाज की व्यवस्था में भी पूरा सहयोग करना वैश्य के कर्त्तव्यों में कहा गया है। शूद्र का कर्म अन्य तीन वर्णों की सेवा और इसी माध्यम से समाज में संगठन का कार्य बताया गया है।

इस रूप में यदि देखा जाए तो वर्ण व्यवस्था जहाँ समाज में एक व्यवस्था की स्थापना में सहयोग करती है, वहीं पर इसमें जो विविध वर्णों के लिए कर्त्तव्यों का कथन किया गया है, उसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय समाज की वर्ण व्यवस्था पुराणों में विस्तार से वर्णित है और इसका स्थायित्व भी बहुत काल से है।

वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में विचारक यह मत व्यक्त करते हैं कि जिस प्रकार मस्तक, हस्त, उरू और पैर शरीर के चार भाग होते हैं और चारो पृथक्-पृथक् रूप से अपना कार्य सम्पादन कर शरीर संचालित करते हैं, उसी तरह से वर्ण व्यवस्था को भी जानना चाहिए। जिसप्रकार से मस्तिष्क सोच-समझकर शरीर की रक्षा का और इसके पालन-पोषण का उपाय बताता है, उसी तरह से ब्राह्मण अपने ज्ञान बल से समाज के संरक्षण का उपाय करता है। ऐसे ही हाथ शरीर पर आने वाली विपत्ति से त्राण देता है और किसी भी बाधा को पार करने के लिये तैयार रहता है। वैसे ही क्षत्रिय पूरे समाज की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेता है और समाज पर आने वाली किसी भी विपत्ति के निवारण के लिये तत्पर रहता है। उदर का काम है खाए हुये भोजन को पचाना और उस पचे हुये रस को यथायोग्य शरीर के सभी अंशों को पहुँचाना। उदर का यही कार्य सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करता है और इसकी रक्षा करता है। इसी भाँति वैश्य कृषि और व्यवसाय के द्वारा पूरे समाज का पालन करता है तथा समाज को पुष्ट बनाने में सहयोगी होता है। शूद्र शरीर में पगों की भाँति है। जिस तरह से पैर शरीर संचालित करते हैं और व्यक्ति के क्रिया-कलाप के सम्पादन में सहयोगी होते हैं उसी तरह से शूद्र सम्पूर्ण समाज का कार्य चलाता है तथा समाज के क्रिया-कलाप के संचालन में सहयोगी होता है।

कहा यह जाता है कि जिस प्रकार से शरीर का कोई भी हिस्सा हीन अथवा महिमावान् नहीं है, उसी तरह से वर्णों में सभी की अपनी-अपनी स्थिति है और वे अपने अपने कर्त्तव्यों के माध्यम से समाज को संगठित रखते हैं।

वर्ण व्यवस्था का सम्बन्ध पुराणकारों की दृष्टि में जन्म से है, कर्म से नहीं। जो जिस वर्ण में जन्म ले लेता है, वह फिर सहज रूप से अपना वर्ण परिवर्तन नहीं कर सकता। वर्ण जन्म का प्राविधान पूर्णकृत कर्म से भी माना जाता है और इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जिस जीव का जैसा कर्म होता है, वह उसी कर्म के अनुसार वर्ण प्राप्त कर लेता है। इस मान्यता का आधार केवल कल्पना मात्र नहीं है अपितु इसका आधार शास्त्रीय है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ योगशास्त्र में लिखा है कि जन्म और कर्म के साथ जाति, आयु और भोगों का सीधा सम्बन्ध है। वे यह लिखते हैं कि जीव जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही वर्ण, वैसी ही आयु, और उसी प्रकार के भोग प्राप्त होते हैं।[१]

भगवान् श्री कृष्ण ने भी श्रीमद् भगवद् गीता में यही संकेत किया है कि चारों वर्णों की सृष्टि मैने स्वयम् ही की है और इसके मूल में गुण तथा कर्मों का विचार किया गया है[२]। अर्थात् जिसके कर्म के जैसे गुण थे, वह उसी वर्ण में उत्पन्न हुआ है। इसका व्याख्यान यह कहकर किया जाता है कि जिसका पूर्ण कर्म सत्वगुण प्रधान है उसका जन्म ब्राह्मण माता-पिता से होता है। जिसका पूर्ण कर्म रज प्रधान होता है उसका जन्म क्षत्रिय माता-पिता से होता है। इसी तरह से जिसका कर्म रज और तम प्रधान है, वह वैश्य वर्ण में जन्म लेता है तथा तम प्रधान कर्म करने वाला शूद्र वर्ण में जन्म लेता है।

यद्यपि कर्म के आधार पर कभी-कभी वर्ण-परिवर्तन हो सकता है और विश्वामित्र जैसे ऋषियों के जीवन की कथाएँ इस ओर संकेत भी करती हैं किन्तु यह सहज सम्भव नहीं है तथा ऐसा करने के लिए कठिन तप और श्रम की आवश्यकता का संकेत पुराणों में है।

---

१. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । यो. द. २/१३

२. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । गी. पृ. ७५

## वर्ण व्यवस्था के प्रारम्भिक संकेत

चार वर्णों पर आधारित वर्ण व्यवस्था इस देश की प्राचीनतम व्यवस्था है। इसका संकेत यहाँ के प्राचीन साहित्य अर्थात् वेद, उपनिषद्, स्मृति और पुराणों में प्राप्त हैं।[१] सर्वप्रथम ऋग्वेद में वर्ण-उत्पत्ति का जो प्रारम्भिक संकेत है उसमें यह कहा गया है कि परमेश्वर के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य तथा पगों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है।[२] इसमें से ब्राह्मण ब्रह्मचारी होकर अपने ब्रह्म से सबकी रक्षा करता है और ब्रह्मचिन्तन करता हुआ ईश्वर की सेवा करता है।[३] उपनिषद् जब ब्राह्मण का संकेत करती है तो वह कहती है कि वह स्वाध्याय तथा दान के द्वारा आत्मचिन्तन में रत रहते हैं।[४]

ब्राह्मण के द्वारा ब्रह्मचिन्तन को प्रमुखता देते हुए उपनिषद् में एक अन्य स्थान पर यह संकेत है कि 'अक्षर' ज्ञान के बाद अर्थात् जो भी तत्त्व कभी क्षरणशील नहीं है ऐसे परमात्मा के ज्ञान के बाद ही जिनका शरीर छूटता है, वह ही ब्राह्मण कहा जाता है।[५] क्षत्रिय के लिए वेद और उपनिषद् उनके कर्म का आख्यानकर उनके वैशिष्ट्य को संकेतित करते हैं। जैसे कि यह कहा गया है कि वह मुख्य रूप से राष्ट्र रक्षा के साथ जुड़ा हुआ है। जो क्षत्रिय मुख्यत: धर्मरूप से प्रजा की रक्षा में तत्पर है, उसका राज्य सर्वदा संरक्षित है। क्षत्रिय रक्षा के लिए दायित्वशील होते हुए भी ज्ञान का आदाता होता था। अर्थात् वह भी अपने विशिष्ट ज्ञान से समाज में पूज्य होता था और ब्राह्मण भी उसके पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते थे। जनक, अजातशत्रु तथा जानश्रुति आदि ऐसे ही राजाओं के उल्लेख उपनिषदों में हैं।[६]

---

१. प्रा.भा. पृ. २९

२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत:।
उरू तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।। वही १०/९/१२
यजु. ३/११;२६/२

३. ई. वे.व., पृ. ११४

४. बृ. ४/४/२२

५. बृ. ३/८/१०

६. ऋग् १०/१९/३
छान्दो ५/३/७

वैश्य के सन्दर्भ में जो यह संकेत है कि यह ईश्वर का उरु रूप है, उसका अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार से शरीर का वह न उरु करते हैं, उसी प्रकार से वैश्यों को कृषि तथा वाणिज्य के कार्य से सम्पूर्ण समाज के योग क्षेम को वहन करना चाहिए। वेद में विश् शब्द से वैश्य का कथनकर यहीं संकेतित किया गया है कि यह वर्ण कृषि, पशुपालन तथा व्यापार के कार्यों में प्रवृत्त था।[१] उपनिषद् भी ऐसा ही संकेत देते हैं और यह लिखते हैं कि ब्रह्म जब विभूतियुक्त कर्म करने में सक्षम नहीं हुआ तब उसने वैश्य वर्ग की उत्पत्ति की, जिसमें रुद्र, आदित्य और विश्वेदेवा आते हैं[२]। शूद्र की उत्पत्ति का जो क्रम भगवान् के पदों से कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि शूद्र सेवा भाव से संयुक्त होता है। शूद्र के प्रति उसकी सेवा भावना से किसी प्रकार की हीनता की प्रवृत्ति प्रकट नहीं होती है। एक उपनिषद् के एक स्थल में यही संकेत है कि ब्रह्म जब विभूतियुक्त कर्म करने में सक्षम नहीं हुआ तब उसने शूद्र की उत्पत्ति की। वहाँ यह लिखा है कि पूषादेव शूद्र वर्ण के हैं।[३]

वर्णों की उत्पत्ति के इस क्रम का आख्यान करने के बाद उपनिषदों में इन सभी वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् धर्मरूपी कर्मों का भी कथन किया है। उपनिषद् कहती है कि उस विभूतियुक्त ब्रह्म ने सभी वर्णों को उत्पन्न करने के बाद कल्याण रूपी धर्म को उत्पन्न किया जिसने सम्पूर्ण प्रजा का नियमन किया[४]। यही कारण है कि वर्णों के लिए जो पृथक्-पृथक् कर्मों का आख्यान किया गया है, वही कर्म उनके लिए धर्म हैं और इन्हीं कर्त्तव्य रूपी धर्म का पालन करने से प्रजा कल्याण की अधिकारिणी होती है।

---

१. प्रा. सा. सां., भू. पृ. ३४
२. बृ. १/४/१२
३. वही, १/४/१३
४. वही १/४/१४

## वर्णों की संख्या

प्रारम्भिक काल से ही, चाहे वह वैदिक काल रहा है अथवा वेदोत्तर काल वर्णों की संख्या चार ही कही गई है। इनके लिए जब उत्पत्ति का क्रम कहा गया है तब ईश्वर से इनकी उत्पत्ति बताकर भी मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य और पगों से शूद्र की उत्पत्ति का कथन किया गया है। कर्मानुसार जब वर्ण-उत्पत्ति का कथन है तब भी चार वर्ण ही कहे गए हैं। महर्षि मनु ने अपनी मनु स्मृति में जो संकेत किया है उसका अभिप्राय भी वैदिक कथन की ही तरह है। वे लिखते हैं कि महा तेजस्वी, प्रतिभाशाली, परमात्मा ने मानवों को मुख, हस्त, जंघायें और पैरों से उत्पन्न किया है तथा इन वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् कर्मों का निरूपण किया है।[१]

इस सन्दर्भ में अन्य और भी संकेत दिए गए हैं जिनमें चार वर्णों का ही विवेचन कहा गया है। जैसे आचार्य कौटिल्य ने त्रयी विद्या के वर्णन के सन्दर्भ में यह कहा है कि यह विद्या चारों वर्णों के लिए औपचारिक है और जो राजा इन चारों वर्णों पर अनुशासन करता हुआ राज्य चलाता है, वह बहुत समय तक पृथिवी का भोग करता है।[२]

पुराणों में भी यही स्थिति है और वहाँ पर चारों वर्णों का संकेत किया गया मिलता है। वहाँ पर अधिकतम रूप में यह मान्यता है कि भगवान् विष्णु इस वर्ण व्यवस्था के प्रवर्तक और रक्षक हैं। उन्होंने ही इस व्यवस्था को सर्वप्रथम स्थापित किया था और वे ही सतत् इसकी रक्षा करते है।[३]

---

१. सर्वास्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपजानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ।। म.स्मृ., पृ. १७

२. एष त्रयी धर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणाञ्च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः।।
चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः। कौ. अ., पृ. १२,१७

३. ब्रह्म. २/३२/५, ३/७२/३५

विष्णु पुराण में चार वर्णों की उत्पत्ति के क्रम में यही लिखा गया है कि महर्षि ने मैत्रेय को उपदेश करते हुए यह कहा कि सत्ययुक्त जगतकर्ता ब्रह्मा जी के मुख से सत्वगुण युक्त प्राणियों ने जन्म लिया। छाती से रजो गुण युक्त प्रजा उत्पन्न हुई और पैरों से तप: प्रधान जीवों की उत्पत्ति हुई। यही सब मिलकर चार वर्ण हुए। ये चारों वर्ण है - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।[१]

नारद पुराण में इस प्रकार का सन्दर्भ आया है जिसमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यही चार वर्ण प्राचीन समय से कहे गए हैं। इन चार वर्णों में प्रथम तीन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का एक जन्म तो अपनी माता के उदर से होता है किन्तु इनका दूसरा जन्म यज्ञोपवीत आदि संस्कार होता है।यही कारण है कि इनको दो बार जन्म लेने के कारण द्विज कहा जाता है। इनके लिए यह विधान है कि ये सभी अपने लिए निर्धारित कर्म हीं करें और धर्मत: जो कर्म इनके लिए कहे गए हैं, उनका पालन करें। जो अपने लिए निर्धारित कर्म नहीं करते वे समाज में निन्दित होते हैं और विद्वान् जन उन्हें पाखण्डी कहते हैं।[२]

---

१. ब्राह्मणा: क्षत्रिया: वैश्या: शूद्राश्च द्विजसत्ताम्।
पादोरुवक्षस्यान्तो मुखतश्च समुद्गता:।।
यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्।। वि. पृ. (१), पृ. ७९

२. ब्राह्मणा: क्षत्रिया: वैश्या: शूद्राश्चत्वार एव ते।
वर्णा इति समाख्याता एते तु ब्राह्मणोऽधिका:।।
एतै: वर्णै: सर्वधार्मा: कार्या वर्णानुरूपत:।
स्ववर्णधर्मत्यागेन पाषण्ड: प्रोच्यते बुधै:।। ना.पु. पृ. ४४१-४४२

वर्णों की संख्या के विषय में अन्य स्थानों पर भी पुराणों में उल्लेख किए गए हैं। एक पुराण में एक स्थान पर यह सन्दर्भ है कि ब्राह्मण को किसी भी प्रकार का क्रोध नहीं करना चाहिए। वह ब्राह्मण पतित हो जाता है जो ऐसा करता है। राजा प्रषध्र ने वाभ्रव्य नामक मुनि बालक से यही कहा था कि ऐसा क्रोध तो शूद्र भी नहीं करता। क्षत्रिय और वैश्य को तो ऐसा क्रोध करते हुये देखा ही नहीं गया।

राजा के लिये धर्म पालन का संकेत करते हुये यह कहा गया है कि जिस प्रकार राजा प्रजा का सम्यक् पालन करने पर कृत-कृत्य होता है उसी से उसको धर्म का अंश भी प्राप्त होता है। जो राजा चारों वर्णों की रक्षा के लिये अपने कर्म में नियत हुआ है वह इस लोक में परम सुख प्राप्त कर अंत में इन्द्र का सुख लोक प्राप्त करता है।[२]

कूर्म पुराण में भी वर्णों की चार संख्या का ही संकेत किया गया है और वहाँ ब्राह्मण की विशेष विशेषता से प्रारम्भ कर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिए आचार का कथन किया गया है। वहाँ यह कहा गया है कि ब्राह्मण की कुशलता, क्षत्रिय का आरोग्य, वैश्य का क्षेम तथा शूद्र का भी आरोग्य ही पूछना चाहिए।[२]

---

१. ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागत्य शूद्रमारोग्यमेव च।। कू.म.पु., पृ. १०४

२. चुकोय विगलत्स्वेद जल लोला विलेक्षण:।
तं क्रुद्धं प्रेक्ष्य स नृप: प्रषध्रो मुनिदारकम्।
प्रसीदेति जगौ कस्माच्छूद्रवत्कुरुषे रुषम्।
न क्षत्रियो न वा वैश्य एवं क्रोधमुपैतिवै।
यथा त्वं शूद्रवज्जातो विशिष्टे ब्राह्मण: कुले।। मा.पु.,पृ. ३१७

३. एवमाचरते राजा चातुर्वर्णस्य रक्षणम्।
स सुखी विहरत्येष शक्रस्यैति सलोकताम्।। वही, पृ. १०३

एक पुराण में इस प्रकार का कथन है कि इस मानव लोक में चार वर्णों की प्रसिद्धि है। ये चारों है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें से प्रथम जो त्रैवर्णिक हैं उन्हीं का वैदिक आचार से सम्बन्ध है। यदि ये त्रैवर्णिक अपने -अपने धर्म में लगे हों तो इन्हीं का श्रुति धर्म के अनुष्ठान में पूर्णाधिकार होता है। जो श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित कर्म का अनुष्ठान करने वाले हैं वही सिद्धि को प्राप्त करता है। वर्ण धर्म का पालन करने वाले अनेक मुनि सायुज्ज मुक्ति को प्राप्त हुये हैं[१]।

श्रीमद् भागवद् महापुराणों में भी चार ही वर्णों का उल्लेख है और सभी वर्णों के धर्मरूपी आचार का कथन वहाँ पर किया गया है। इसका वर्णन करते हुये अन्त में यह कहा गया है कि मनुष्यों का जो स्वभावगत धर्म है वर्णों के माध्यम से उसे प्रत्येक युग में कहा गया है। वैदिक विदों ने उसके पालन करने वालों के लिये इस लोक में और परलोक में सुख की कामना की है[२]। एक अन्य स्थान पर इसी तरह से भगवान् के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति कही गयी है और इनके कर्त्तव्यों को इनके आचार कहा गया है[३]।

---

१. सं. शि. पु., पृ. ५३५

२. प्राय: स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे।
वेद दृग्भि: स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत्।।
भा. म. पु., पृ. ३७७

३. विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा: मुखबाहूरुपादजा:।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षय:।। वहीं, पृ. ६९९

## ब्राह्मण की श्रेष्ठता

जिस रूप में यह कहा गया है कि भगवान् के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई है उससे यही निश्चय किया जा सकता है कि ब्राह्मण सभी वर्णों में उसी प्रकार से श्रेष्ठ है जिस प्रकार शरीर में मुख श्रेष्ठ है। ऋग्वेद में एक स्थान पर यह सन्दर्भ आया है कि जो राजा ब्राह्मणों को दान देता है और आदर के साथ उनकी प्रतिष्ठा करता है, वह सदा-सर्वदा सुखी रहता है[१]। तैत्तरीय संहिता में यह कहा गया है कि अन्य सभी देव तो चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु ब्राह्मण ऐसे प्रत्यक्ष देवता हैं जिन्हें हम साक्षात् रूप से देख सकते हैं।[२] एक अन्य सन्दर्भ में यह संकेत है, जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का सूचक है कि ब्राह्मणों में ब्राह्मण्य, पवित्र आचरण, यज्ञ तथा लोक पंक्ति की श्रेष्ठता रूपी चार विशेष गुण होते हैं। इस रूप में जो ब्राह्मणों से शिक्षा पाता है, वह ब्राह्मणों को चार अधिकार प्रदान करता है। ये अधिकार हैं अर्चा, दान, अजेयता और अवध्यता।[३]

उपनिषद् ग्रन्थों में भी ऐसे ही संकेत हैं जिनमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण अन्य सभी से श्रेष्ठ है। एक स्थान पर क्षत्रिय की श्रेष्ठता बताते हुये यह कहा गया है कि यद्यपि कहीं-कहीं क्षत्रिय का सम्मान ब्राह्मण को करना होता है, तथापि यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण की हत्या करता है तो वह अपनी योनि खो देता है। ऐसा क्षत्रिय पाप का भागीदार बनता है।[४]

---

१. अप्रतीतो जयति संधनानि प्रतिजनान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिव: कृणोति, ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवा:।। ऋग् ४/५०/९

२. तै. सं.१/७/३/१

३. प्रज्ञा वर्धमाना चतुरोधर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्यादयति ब्राह्मण्ये प्रतिरूपधर्मया यशो लोकपंक्ति लोक:। पच्यमानश्चतु र्भिर्धभै: ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चय: च दानेन.......।
श.ब्रा. ११/५/७/१

४. ई. द्वा. उ., पृ. २८१

ब्राह्मण की श्रेष्ठता के साथ यह अवश्य इंगित किया गया है कि उसे अक्षर ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि उसे अक्षर ज्ञान नहीं होगा तो उसकी श्रेष्ठता भी प्रामाणिक और मान्य नहीं होगी। उपनिषद् में एक स्थान पर ज्ञान के महत्त्व का अंकन करते हुये यही कहा गया है कि जो गायें देय हैं, उन्हे वहीं प्राप्त कर सकता है जिसे अक्षर ज्ञान हो। यहाँ पर अक्षर से (क्षरणन होने वाले अर्थात् ब्रह्म) समझा जा सकता है[१]। एक दूसरे सन्दर्भ में अक्षर ब्रह्म के ज्ञान को परम ज्ञान मानने का संकेत है, जिसमें यह कहा गया है कि ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण किसी से भयभीत नहीं होता और वह सदा अपने को बलवान् बनाये रहता है।[२]

ज्ञान के साथ ब्राह्मण की श्रेष्ठता सत्य भाषण से भी थी क्योंकि सत्यकाम जाबालि के कथानक का यही संकेत है। जब जाबालि ने अपने पिता का नाम न जानने पर माता का नाम बताया और यह कहा कि मेरी माता मेरे पिता का नाम नहीं जानती, तब आचार्य ने कहा था कि वत्स! तुम निश्चित रूप से ब्राह्मण हो क्योकि ब्राह्मण से कोई भिन्न ऐसा सत्य भाषण नहीं कर सकता।[३]

---

१. तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मनिष्ठः स एता मा उद्वतामिति।
ई. द्वा. उ., पृ. ३१७

२. यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं बह्मणो विद्वान्।
न बिभेति कुतश्चन्। एतं ह वाव न तपति। क्रिमहं साधु नाकरवम्।
किमहं पापमकरवमिति। वहीं, पृ. ९२

३. तं होवाच किं गोत्रोनु सोम्यासीति सा होवाच नाहमेतद् वेद भो
यद्गोत्रो अहमस्म्यपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी....।
वही, पृ. १७४

महर्षि मनु ने ब्राह्मण की श्रेष्ठता के विषय में यह कहा है कि यह सर्वदा श्रेष्ठ और महान् है। उन्होंने लिखा है कि यागादि क्रिया करने से और जिनके आश्रम से लोक ठहरते हैं, ऐसे ब्राह्मणों को भला कौन हीन कर सकता है। विप्र चाहे मूर्ख हो अथवा विद्वान् वह दैव सदृश है। जिसप्रकार अग्नि चाहे मन्त्र पूत होवे, तब भी अग्नि है और मन्त्रपूत न भी होवे, तब भी वह अग्नि ही है[1]।

स्मृतिकार यह कहते हैं कि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि वह प्रकृत्या देवता है। इसलिए यदि ब्राह्मण अनिष्ट करता है तो भी वह पूजने योग्य है। वह प्रकृति देवता है और यह स्तुति के योग्य है।[2]

आचार्य का यह कथन भी है कि वेद के ज्ञाता विद्वान् का गृहस्थ स्वधर्म का आचरण करता हुआ विप्रो की सेवा करें।[3] इस रूप में यह संगत है कि ब्राह्मण के कर्म के साथ-साथ उसका यह महत्त्व उसके जन्म के साथ ही निरूपित है क्योंकि वह सभी वर्णों में प्रथम है और उसका जन्म भी परमात्मा के मुख से हुआ है।

---

१. यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यान्तान्जिजीविषुः।।
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्।। मनु.स्मृ., पृ.४२२

२. एवं यद्यप्यनिष्टषु वर्तन्ते सर्वकर्मषु।
सर्वधा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्।। वही, पृ. ४२३

३. विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशश्विनाम्।
शुश्रुषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः।। वही, पृ. ४२६

## वर्ण परिवर्तन के सन्दर्भ

यह एक आश्चर्य का विषय हो सकता है कि वर्ण की मान्यता जन्मना होने पर भी प्राचीन समय में इतनी कठोर व्यवस्था नहीं थीं कि इस में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जा सकता हो। वैदिक तथा वेदोत्तर काल में अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न वर्ण आवश्यकता और वैधानिकता के आधार पर परिवर्तित हो सकते थे। शतपथ ब्राह्मण में ऐसा सन्दर्भ हैं कि जोसुर आसुर भाषा का प्रयोग करता था अथवा अशुद्ध भाषा बोलने लगता था, वह स्वतः ही म्लेच्छ हो जाता था।[१] इसीप्रकार से यह कहा गया है कि यज्ञ करने वाला किसी भी वर्ण का क्यो न होवे, वह ब्राह्मण बन जाता था। यही स्थिति उस ब्राह्मण की थी, जो अश्वमेघ विधान नहीं जानता था, क्योंकि यह न जानने पर उसे ब्राह्मण वर्ण से च्युत होना पड़ता था।[२]

वेदों में इस बात के भी पर्याप्त संकेत हैं जिसमें यह कहा गया है कि यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है कि कोई किस वर्ण का है अथवा उसके माता-पिता श्रेष्ठ वर्ण के हैं अपितु यह महत्वशील है कि यदि वह श्रुतशाली है तो ब्राह्मण है।[३] आचरण की महत्ता का एक उद्धरण इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि इस जीवन के बाद यदि उत्तम ब्राह्मण योनि पाना है तो रमणीय आचरण अपनाने की आवश्यकता है। यदि कोई उत्तम आचरण नहीं करता तो उसे दूसरे जन्म में अधम योनि अर्थात् श्वान्, शूकर अथवा चाण्डाल जैसी योनि में जन्म लेना पड़ता है।[४]

---

१. श. ब्रा. ३/२/१/२४

२. वही ३/४/२/१७

३. किमु ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्।
श्रुतं वेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः।
कृ, यजु. ६०/१

४. छान्दो. ५/१०/७

सूत्र साहित्य में भी ऐसे संकेत हैं जिनमें यह कहा गया है कि संस्कार-विहीन पतित सावित्रीक होकर समाज से वहिष्कृत होकर ब्रात्य हो जाते हैं। जब वे पतिताचरण वाले हो जाते हैं तब उनके उपनयन, अध्ययन, यज्ञ आदि के अधिकार भी छिन जाते हैं[१]। एक अन्य सूत्र ग्रन्थ में यह कहा गया है कि निम्नवर्ण के लोग अपने धार्मिक आचरण से उच्चतर वर्ण के हो जाते हैं और उच्चवर्ण के लोग अपने अधार्मिक आचरण से निम्नवर्ण के जैसे समझे जाते हैं[२]।

बौधायन धर्म सूत्र में यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण सन्ध्या नहीं करता उसे धार्मिक राजा को शूद्रों के कार्य में लगा देना चाहिए, क्योंकि नियमित सन्ध्या न करने के कारण ब्राह्मण शूद्रवत् हो जाता है। इसी तरह से यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी अन्य वर्णों के लिए निर्धारित काम करने लगता है, वह शूद्र ही हो जाता है[३]।

डॉ० काणे ने कुछ उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन समय में एक पिता के दो पुत्रों में से पृथक्-पृथक् अपना-अपना धर्म अपना सकते थे। एक ब्राह्मण धर्मा हो सकता था और दूसरा क्षात्र धर्मा[४]। ऋग्वेद में एक ऐसा ही सन्दर्भ है जिसमें एक स्थान पर एक ऋषि यह कहते हैं कि मैं स्तुतिकर्ता हूँ, मेरे पिता वैश्य हैं और मेरी माँ चक्की में आटा पीसती है[५]।

---

१. आ.गृ. १/१९/५/७
२. आ.ध.सू. ५/४/३/२
३. बौ.ध.सू. २/४/२०; १/५/९५
४. ध.इ., पृ. १११
५. ऋग् ९/११२/३

महाभारत में यह कहा गया है कि सृष्टि में सर्वप्रथम ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई और तदन्तर शेष वर्ण भी ब्राह्मणों से ही हुए, इसीलिए सभी वर्ण मौलिक रूप से ब्राह्मण हैं।[१] वहाँ पर यह कहा गया कि तीक्ष्ण स्वभाव वाले जो साहसी थे, वै क्षत्रिय हो गए, जो ब्राह्मण गोरक्षण में प्रवृत्त थे तथा व्यापार की ओर अभिमुख हुए वे वैश्य हो गए। इसी तरह से जो हिंसा करने वाले, असत्य बोलने वाले तथा निन्दित कर्मों में प्रवृत्त रहने वाले थे, वे सभी शूद्र हो गए[२]। क्योकि जो व्यक्ति भोजन के संबंध में आचार विचार का ध्यान नहीं रखता, सभी प्रकार के काम करता है, वेद का परित्याग कर देता है, वही शूद्र है[३]। इसी तरह से वहाँ पर यह कहा गया है कि शूद्र में यदि शूद्रत्व के गुण न होकर दूसरे वर्ण के गुण हैं, तो वह शूद्र नहीं है और इसी तरह यदि ब्राह्मण में ब्राह्मण के गुण नहीं है तो वह ब्राह्मण नहीं रह जाता है।[४] ब्राह्मण का आचरण ही उसे ब्राह्मण बनाता है। सदाचार ही एकमात्र ऐसा आधार है जो किसी को भी ब्राह्मण बनाता है। और किसी को भी शूद्र बना देता है। सदाचार से ही ब्राह्मण ब्राह्मत्व से मण्डित होता है और सदाचार से पतित होने वाला ब्राह्मण शूद्रत्व का अधिकारी बनता है।[५]

---

१. म.भा.शा.प. ६०/४५
२. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्मणमिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।। वही, १८१/१०
३. वही, १८१/११-१३
४. वही १८२/७, कौ. अ. ३/१३
५. सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति।। म.भा.अनु. १४३/५१

एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि साधुता को अपनाने वाले व्यक्ति में ब्राह्मणत्व की सिद्धि होती है[१]। शुभ आचार से शूद्र द्विज हो जाता है और वैश्य क्षत्रिय बन जाता है[२]। हीन जाति में उत्पन्न होने वाला शूद्र भी यदि संस्कार सम्पन्न होता है तो वह ब्राह्मण बन जाता है[३]। और यदि कोई ब्राह्मण नीच वृत्ति अपना लेता है तो वह ब्राह्मणत्व छोड़कर पूरी तरह से शूद्र हो जाता है[४]।

महाराज युधिष्ठिर ने एक स्थान पर यह कहा है कि शूद्र वंश में उत्पन्न होने से न कोई शूद्र होता है और न ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने से ब्राह्मण होता है। जिनमें सत्य, दान, क्षमा, उदारता, तप तथा दम हो वे ब्राह्मण हैं और जिनमें इनका अभाव हो, वे शूद्र हैं[५]।

महर्षि मनु ने भी इसी कथन और विचार का समर्थन किया है। वे लिखते हैं कि तप और बीज के प्रभाव से प्रत्येक समय में लोग उत्कर्ष प्राप्त करते आए हैं, अन्यथा आचरण करने पर अपकर्ष के भाजन बनते रहे हैं। धीरे-धीरे क्रिया के लोप होने से और ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने पर कुछ क्षत्रिय जातियां शूद्र हो गई हैं[६]। अन्य अनेक स्थानों पर भी मनु ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं और वर्ण परिवर्तन का समर्थन किया है[७]।

---

१. म.भा. वन २०६/१०
२. म.भा. अनु. १४४/२६
३. वही, १४४/४६
४. वही, १४४/४७
५. वही वन १०८/२१-२६
६. तपोबीज प्रभावैस्तु ते गच्छति युगे-युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः।। म.स्मृ. १०/४२-४३
७. मनु. स्मृ. २/१६८

पुराणों में भी इस प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि कोई भी वैश्य अथवा क्षत्रिय यदि ब्राह्मण के कर्म में प्रवृत्त हो जाता है और ब्राह्मण का कर्म करने लग जाता है, तो वह भी ब्राह्मण बन जाता है। यदि कोई शूद्र शुभ आचरण करता है तो वह ब्राह्मण बन सकता है और वैश्य यदि क्षत्रिय का कर्म करने लगे तो वह क्षत्रिय बन जाता है[२]। श्री मद्भागवत पुराण का यह संकेत कि जिस वर्ण का जो लक्षण बताया गया है, यदि वह लक्षण किसी अन्य वर्ण में मिल जाए तो उस व्यक्ति का वर्ण गुणानुसार ही जानना चाहिए[३]।

इस सबका अवलोकन करने के बाद यही कहना संगत हो सकता है कि प्रारम्भ से ही जन्म से वर्ण का महत्त्व अवश्य रहा है किन्तु कर्म के अनुसार वर्ण परिवर्तन के अनेक ऐसे संकेत हैं, जिनसे यह कह पाना कठिन है कि जन्म से ही वर्ण की पहचान प्राचीन समय में थी। जो केवल जन्म से ब्राह्मण होते थे और कर्म से अन्य वर्णों के कर्म करने लगते थे उन्हें केवल नामधारी ब्राह्मण कह दिया जाता था किन्तु वे पूर्ण ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त कर पाते थे। महर्षि पतंजलि ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य में यह संकेत किया है कि अपने वर्ण को बनाए रखने के लिए तदनुकूल कर्म करना आवश्यक होता था[४]।

---

१. ब्रह्म. पु. २२३/१४

२. वही २२३/६२, ३७, ४०

३. यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्।। प्रा.भा. सा.सा., पृ. ५२ पर उद्धृत

४. तपः श्रुतं च योनिश्चैतद् ब्राह्मण कारकम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव सः। म.भा., २/२/६

जहाँ कि पुराणों में कर्म से वर्ण परिवर्तन होने के संकेत हैं, तो वे भी कम नहीं हैं। महाभारत में विश्वामित्र की कथा विस्तार से आती है जिसमें यह संकेत है कि वे जन्म से ब्राह्मण नहीं थे किन्तु क्षत्रिय कुलोत्पन्न होने पर भी वे ब्राह्मण बन गए थे। और यह उनकी अतुलनीय तपस्या के बल से हुआ था[१]। अन्य जो कथानक और वंश-विस्तार के सन्दर्भ हैं उनमें राजर्षि मनु और नहुष के वंशजो का कथन है जिसमें इन दोनों क्षत्रियों के वंश में अनेक ब्राह्मण हुए[२]। इसी तरह से एक राजा नामारिष्ट था, जो जन्म से वैश्य था किन्तु उसके दो पुत्र ब्राह्मण हो गये थे[३]। गृत्समद का वंशज शुनक था। उसी की परम्परा शौनक नाम से जानी जाती है। शौनक परम्परा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी हुए थे[४]। वत्सभूमि और भृगुभूमि नामक ब्राह्मणों से भी चारों वर्णों की सन्तान परम्परा चलने का उल्लेख मिलता है[५]।

विष्णु पुराण में भी यह उल्लेख किया गया है कि आंगिरस, शौनक, काण्वायन और मौदगल्य ब्राह्मण वंशों की उत्पत्ति क्षत्रिय राजाओं से हुई है। इसप्रकार के जो ब्राह्मण हैं और जिनकी उत्पत्ति क्षत्रियों से हुई, उन्हें इस पुराण में क्षत्रोपेत नाम से जाना जाता है[६]। इसमें यह भी उल्लेख है कि एक पृषध्र नामक ब्राह्मण ने अपने गुरु की गौ का वध कर दिया था, इसलिए वह शूद्र हो गया था।

---

१. म.भा. अनु. ४/४८
२. वही शान्ति. २२/११
३. हरिवंश ११/६५८
४. वही २९/१५१९, वि. पु. ४/८।१
५. वही २९/१५९७-९८
६. वि.पु. ४/१९/१०, ४/१/१४

श्रीमद् भागवत में इस प्रकार का उल्लेख है कि ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से ज्येष्ठ भरत राजपुत्र हुआ और ८१ पुत्र उच्च कोटि के याज्ञिक पण्डित हुए[१]। इसी प्रकार से प्रारम्भ में पुरुवंश क्षत्रियों का वंश था किन्तु आगे चलकर वह क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों का वंश हो गया[२]। भरत नामक राजवंश में गर्ग की उत्पत्ति हुई थी। इसी गर्ग से गार्ग्य नामक ब्राह्मण वंश चला। दुरितक्षय राजा के तीन पुत्र थे। वे ब्राह्मण बन गए थे। इनके नाम थे-त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि[३]।

एक अन्य पुराण में यह सन्दर्भ दिया गया है कि राजा नहुष का पुत्र संयाति तपस्या करके ब्राह्मण हो गए थे[४]। एक और सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि नाभाग और वृष्टि क्षत्रिय थे किन्तु इनकी संतान परम्परा वैश्य हो गई थी। वलि नामक राजवंश से वालेय क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनो का प्रादुर्भाव हो गया था[५]।

एक ऐतिहासिक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि कदम्ब वंश के ब्राह्मण मयूर शर्मा के राजा बनने और उसके वंशजों के वर्मा नामक उपाधि अपनाने का उल्लेख मिलता है। इस वंश के राजा काकुस्थ वर्मा ने अपनी कन्याओं का विवाह गुप्त आदि राजवंशों मे किया था[६]।

---

१. एवीयांस एकाशीतिजयिन्तेया: पितुरादेशकरा महाशालीना
महाश्रोत्रिया यज्ञशीला: कर्मविशुद्धाब्राह्मणा: वभूवु:।। भा.पु., पृ. २६२

२. पूर्वों वंश प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽतिभारत।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे।। वही, पृ. ४६६

३. वही, पृ. ४६९

४. वा.पु. ९७/१४

५. ब्र. पु.७/२६

६. एपि. भाग ८, पृ. २४

महर्षि मनु ने विवाह की जो परम्परा दी है उसमें यह कहा गया है कि शूद्र की एक ही स्त्री शूद्रा होनी चाहिए। वैश्य के लिए वैश्य और शूद्रा स्त्री विचारणीय है। क्षत्रिय के लिए ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्य और शूद्रा भी विचारणीय है। इसका अभिप्राय यह है कि इनसे उत्पन्न होने वाली संतान तब समाज में स्वीकृत थी। यह अवश्य हो सकता है कि वह हीन मानी जाती हो।

एक दूसरे उदाहरण में यह कहा गया है कि वैश्य स्त्री से उत्पन्न राजा का पुत्र राजपद पर अभिषिक्त नहीं हो सकता[२]। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि ऐसी सन्तान राजपद चाहे भले ही न पावे किन्तु राजा का विवाह वैश्य स्त्री के साथ हो सकता है।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों की चर्चा प्रायः स्मृतियों का विषय रही है। एक सूत्र ग्रन्थ में यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण शूद्रा का पति है, वह श्राद्ध में त्याज है। अर्थात् मन्त्रपाठ के साथ उसे श्राद्ध करने का अधिकार नहीं है[३]। कुछ अन्य आचार्य यह मानते हैं कि ब्राह्मण का शूद्रा के साथ विवाह हो तो सकता है किन्तु उस विवाह संस्कार में वैदिक मन्त्रों का पाठ नहीं होना चाहिए[४]।

---

१. शूद्रैव भार्या शूद्रस्य स च स्वा च विशः स्मृतेः।

ते च स्व चैव राज्ञश्च ताश्च स्व चाग्रजन्मनः। मनु. स्मृ. ३/१३

२. शूद्रा यदार्यजारा न पोषाय धनायतीति तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिंचति।

श.ब्रा. १३/२/९/८०

३. गौ. सू. ४/१४/१७

४. पा.गृ.सू. १/४/११, व.ध.सू. १/२५

**ब्राह्मणों के कर्तव्य**

वर्णों के कर्तव्यों के सन्दर्भ में जब यह कहा जा चुका है कि जन्म से वर्ण की पहचान होने पर भी कर्म से वर्ण का परिवर्तन सम्भव था, तो तब के समाज में यह आवश्यक था कि सभी के कर्तव्यों का कथन किया जाता। प्राचीन समय में ऐसा किया भी गया है और सभी वर्णों के कर्तव्यों का कथन किया गया है तथा यह कहा है कि जो अपने लिए निर्धारित कर्म का आचरण नहीं करता है वह अपने वर्ण से च्युत होकर हीन हो जाता है। इस सन्दर्भ में यदि देखा जाए तो ब्राह्मणों के कर्तव्यों का कथन भली भाँति किया गया है।

स्मृतियों में क्योंकि मनुस्मृति महत्त्वपूर्ण है, इसलिए इसमें यह देखना उचित होगा कि प्राचीन समय में ब्राह्मणों के क्या कर्तव्य थे। महर्षि ने वर्णों के कर्तव्यों का कथन करने के पूर्व यह मन्तव्य प्रकट किया है कि श्रुति और स्मृति के धर्मों का अनुकरण कर मनुष्य इसी लोक में कीर्ति के साथ-साथ परलोक का सुख भी प्राप्त करता है[१]। इसलिए सभी के लिए श्रुति-स्मृति से प्रतिपादित अपने कर्म रूपी धर्म का पालन अवश्य करना चाहिए और ब्राह्मण के लिए तो यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण तर्क का सहारा लेकर श्रुति तथा स्मृति का अनादर करता है वह सन्तों और स्वजनों से पृथक् कर देने योग्य है[२] क्योंकि वह नास्तिक होने के साथ-साथ वेद का निन्दक है और वेद निन्दक ब्राह्मण कुल में ग्राह्य नहीं है।

---

१. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्ति मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमम् सुखम्।।

२. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः।
स साधुभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। मनु.स्मृ. २/९-१०

आचार्य कौटिल्य ने भी यही लिखा है कि अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन दान और प्रतिग्रह ब्राह्मण वर्ण के इन कर्तव्यों को उनके धर्म कहते हैं। वे आगे यह लिखते हैं कि यह तो ब्राह्मण का धर्म है ही, इसके साथ ही सभी के लिए जिन धर्मों का कथन किया गया है वे भी ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठतम् धर्म हैं। ये धर्म हैं कि वह किसी की हिंसा न करे, सत्यवचन का पालन करे, पवित्रता का आचरण करे, किसी से ईर्ष्या न करे, सभी पर दयालु बना रहे अर्थात् सभी पर दयाभाव बनाए रहे, और उसके स्वभाव में क्षमाशीलता होवे[२]।

कौटिल्य का इस सन्दर्भ में यह कथन है कि जो इस अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन करता है वह स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति करता है। जो अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन नहीं करता, वह वर्ण संकरता को प्राप्त होता है तथा लोक के नाश का हेतु बनता है।

कौटिल्य का इस सन्दर्भ में एक विशेष दृष्टिकोण यह है कि प्रजा में यदि कोई अपने वर्ण-धर्म का पालन नहीं करता है तो राजा का यह कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा से वर्ण धर्म का पालन करावे। ऐसा राजा ही लोक और परलोक में सुखी होता है[४]।

---

१. स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। कौ.अ., पृ. १२

२. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयानृशंस्यं क्षमा च। वही, पृ. १४

३. स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकः संकरादुच्छिद्येत। वही. पृ. १४

४. तस्मात् सर्वभूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।। वही, पृ. १४

महर्षि मनु ने जब ब्राह्मणों के लिए कर्तव्यों का निर्धारण किया और उनके लिए ऐसे कर्म बताए जो श्रेष्ठ संस्कारों के प्रतीक हैं, तो इसके पीछे उनका यही तर्क था कि ब्राह्मण अन्य वर्णों से पहले उत्पन्न हुआ है और उसे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण शरीर में मुख जैसी श्रेष्ठता प्राप्त है। अतएव महाराज मनु ने कहा कि अध्ययन करना तथा अध्यापन कराना, यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना, दान देना एवं दान लेना, ब्राह्मणों के कर्तव्य है। क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण शरीर में मुख से उत्पन्न है साथ ही साथ सभी वर्णों में प्रथम उत्पन्न हुआ है, इसलिए स्वाभाविक रूप से वह सभी का प्रभु है[२]। ब्राह्मण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए महर्षि मनु यहाँ तक कहते हैं कि जीवों में प्राणधारी, प्राणधारियों में बुद्धिमान्, बुद्धिमानों में मनुष्य और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है[३]। इस श्रेष्ठता के कथन में इतना अवश्य है कि वे ज्ञानी और वेदपाठी, ब्राह्मण को ही श्रेष्ठता प्रदान करते हैं। जो ज्ञानी नहीं है और वेदपाठ से विरत है, वह ब्राह्मण उनकी दृष्टि में वरेण्य नहीं है।

---

१. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।।

उत्तमांगो भवाज्जैष्ठाद् ब्राह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः।।

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः।। म.स्मृ. पृ. १८-१९

पुराणों में विस्तार पूर्वक ब्राह्मणों के कर्तव्यों का कथन किया गया है और वहाँ पर भी प्राय: वही कर्तव्य कहे गए हैं, जो कर्तव्य स्मृतियों में ब्राह्मणों के लिए निर्धारित हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में ब्राह्मण के कर्तव्यों का कथन करते हुए यह कहा गया है कि जिसके संस्कार अविच्छन्न रूप से श्रेष्ठ होते हैं, वह द्विज कहा जाता है। द्विजों के लिए यज्ञ, अध्ययन और दान विहित है। उनके जन्म, कर्मश्रेष्ठ और आश्रमानुकूल होते हैं। इनमें जो ब्राह्मण है वह अप्रतिग्रही होकर अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह षड्कर्मों का आचरण करता है[1]।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण के लिए यह कहा गया है कि शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, दया, सत्यादि, ब्राह्मण के जीवन के स्वाभाविक लक्षण हैं[2]। अर्थात् ब्राह्मण अपने लिए निर्धारित छह कर्म करता हुआ भी, इन गुणों से युक्त होना चाहिए, अन्यथा वह ब्राह्मण के स्वभाव लक्षण वाला नहीं कहा जा सकेगा।

---

१. संस्कारायदविच्छिन्नाः स द्विजोऽ जो जगाद् यम्।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्।।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः।
विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः। भा.म.पु., पृ. ३७६

२. शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मतत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्।। वही, पृ. ५७६

श्रीमद्भागवत के इस क्रम में, जहाँ ब्राह्मण के लिए कर्तव्यों का कथन किया गया है, वहीं पर उसकी जीविका कैसे चले और कौन सी जीविका उसके लिए श्रेष्ठ है, इसका भी संकेत व्यास जी के द्वारा किया गया है। वेद व्यास जी ने जीविका के छह भेद किए हैं किन्तु इसमें से एक जीविका के भेद का पूरी तरह से निषेध किया है। वेद व्यास जी ने जीविका के भेदों में ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्यानृत तथा श्ववृति की गणना की है। इसमे से ऋत वृत्ति वह है जिसमें विप्र खेतों में गिरे हुए धान्य का संकलन कर उससे अपनी जीविका को चलावे। जो विना याचना के उसे मिल जाए और उससे यदि वह अपनी जीविका चलावे, तो वह अमृत जीविका है। प्रतिदिन याचना करके जीविका चलाना मृत जीविका है। कृषि कार्य से जीविका अर्जित करना प्रमृत जीविका है। जो व्यवसाय से प्राप्त होती है वह सत्यानृत जीविका है। किसी नीच व्यक्ति की सेवा से प्राप्त जीविका श्वजीविका है। इसलिए ब्राह्मण को किसी भी रूप में श्ववृत्ति की जीविका अर्जित नहीं करनी चाहिए। राजा के लिए भी ऐसी जीविका निन्दित है[१]।

---

१. ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम्।
मृतं तु नित्य याच्ञाा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्।।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम्।
वर्जयित् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम्।।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेव मयो नृपः।।
卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐
ऋतामृताम्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताम्यां जीवेत न श्ववृत्या कथञ्चन।। भा.पु.,पृ. ३७६

श्रीमद्भागवत् के एकादश स्कन्ध में ब्राह्मणों के लिए कर्तव्यों का और उनके जीवन के सात्विक स्वरूप का और भी विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ पर भी पिछली बातों को दोहराते हुए जहाँ यह कहा गाय है कि शम,दम,तप,शौच, सन्तोष, शान्ति, ऋजुता, दया, सत्य ब्राह्मण की प्रकृति हैं, वहीं एक नया तत्त्व यह जोड़ा गया है कि भगवान् की अविचल भक्ति भी ब्राह्मण की स्वाभाविक प्रकृति है[१]।

महर्षि वेद व्यास जी ने यहाँ पर एक संकेत में यह कहा है कि यश, अध्ययन और दान सभी द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए विहित कर्म हैं किन्तु दान लेना, अध्यापन करना तथा यज्ञ कराना केवल ब्राह्मण के लिये ही मान्य है[२]।

महर्षि ने लिखा है कि ब्राह्मण का शरीर एक महत् उद्देश्य के लिए होता है। यह शरीर ईश्वर की कृपा से मिला है और इसका उपयोग क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिए नहीं किया जाना चाहिए। जो ऋतवृत्ति से अपनी जीविका अर्जित करता हुआ प्रसन्न और संतुष्ट चित्त होता है और जो अपनी सम्पूर्ण वृत्ति तथा आत्मा मुझमें समर्पित कर देता है, वह शान्ति पाता है[३]।

---

१. शमो दम: तप: शौचं संतोष: शान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्म प्रकृतयस्त्विमा:।। भा.म.पु.,पृ. ७००

२. इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्।। वहीं,पृ. ७००

३. ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
मयर्पितात्मा गृह एव तिष्ठम्........।। वही, पृ. ७००

श्रीमद्भागवत् पुराण की ही तरह से एक अन्य पुराण में यह वर्णन आया है कि दान, अध्ययन और यज्ञ ये तीन कर्म ब्राह्मण के कर्म हैं। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण के लिए कोई भी कर्म विहित नहीं है। इनके अतिरिक्त यदि वह अन्य किन्हीं कर्मों का सम्पादन करता है तो वह उसके लिये आपत्तिकर है। ब्राह्मण के लिये विशुद्ध भाव से यज्ञ कराना उसका परम धर्म है। इसी प्रकार से अध्यापन करना उसके लिये एक विशिष्ट कर्म है। ब्राह्मण सात्विक भाव से अपरिग्रह का पालन करें। यह भी उसके लिये और उसके ब्राह्मणत्व के लिये श्रेयस्कर रूप में पालनीय है[१]। इस वर्णन से यह संकेत मिलता है कि मार्कण्डेय पुराण ने ब्राह्मण के कर्तव्यों में तीन कर्तव्यों पर अधिक जोर दिया है और उन्हीं पर इस पुराण का पूरा ध्यान है, जबकि एक अन्य पुराण में ब्राह्मणों के छह कर्तव्यों का ही कथन किया गया है। इसमें कहा गया है कि यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, अध्ययन करना और अध्यापन कराना ब्राह्मणों के कर्तव्य हैं[२]।

---

१. दानमध्ययनं यज्ञो ब्राह्मणस्य त्रिधोदितः।
धर्मो नान्यश्चतुर्थोऽस्ति धर्मस्तस्यापदं बिना।।
याजनाध्यापने शुद्धस्तधा पुत्र प्रतिग्रहः।
एतत् सम्यक् समारव्यातं त्रितयं चास्य जीविका।। मा.पु.,पृ. १०३

२. यजनं याजनं दानं ब्राह्मणस्यप्रतिग्रहम्।
अध्यापनं चाध्ययनं षट् कर्माणि द्विजोत्तम।। कू.पु., पृ. १३

नारद पुराण में ब्राह्मण के कर्तव्यों में कुछ नवीनता जोड़ी गई दिखती है। जैसे कि वहाँ यह कहा गया है कि ब्राह्मण ऋतुकाल के समय में ही पत्नी का गमन करें। ऐसा करना ही प्रशंसित होता है। इसीप्रकार से वह ऐसी बात कभी न करे जिससे किसी का अहित होता हो। ब्राह्मण को चाहिए कि वह सदा ही भगवान् विष्णु की पूजा में निरत रहे। इसके साथ वहाँ पर यह कहा गया है कि ब्राह्मण, ब्राह्मणों को ही दान देवे। यज्ञों के यजन द्वारा देवों को प्रसन्न करे, वह अपनी जीविका के लिये यज्ञ करावे तथा इसी निमित्त अध्यापन भी करे। विप्र नित्योदकी रहकर वेदों का अध्ययन करें और प्रतिदिन अग्निहोत्र करें। जो द्रव्य स्वयं के ग्रहण करने योग्य है और जो द्रव्य दूसरों को देने योग्य हो इन दोनों में से किसी प्रकार का भेद न करें। ब्राह्मण का यह भी कर्तव्य है कि वह सदा ही अपने मुख से कोमल वाणी का व्यवहार करें और कठोर तथा अहितकर वाणी का प्रयोग न करें।

---

१. दानंदधाद् ब्राह्मणेभ्यस्तथा यज्ञैर्यजेत्सुरान्।
वृत्यर्थं याजयेच्चैव अन्यानध्यापयेत्तथा।।
याजयेधजने योग्यान्विप्रो नित्योदकी भवेत्।
कुयच्चि वेदग्रहणं तथाग्नेश्च परिग्रहम्।।
ग्राह्ये द्रव्ये च पारक्ये समबुद्धिर्भवेत्तथा।
सर्वलोकहितं कुयन्मृिदे वाक्यमुदीरयते ।।
ऋतावभिगमः पत्न्यां शस्यते ब्राह्मणस्य वै।
न कस्याप्यहितं ब्रूयाद्विष्णु पूजा परो भवेत्।।
ना.पु.,पृ. ४४३-४४७

## यज्ञ

भारतीय परम्परा में अतिप्राचीन काल से ही यज्ञीय परम्परा का स्वरूप प्रतिष्ठित रहा है। वैदिक वाङ्मय तो इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ही है जहाँ पर अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान कहा गया है। यहाँ पर यह दृष्टव्य है कि यज्ञ का निरूपण जहाँ पर व्यक्तिगत कामना की पूर्ति के लिए कहा गया है, वहीं पर यह कहा गया है कि यज्ञ के माध्यम से समाज के कल्याण की कामना भी की जाती थी। श्रीमद्भगवत् गीता में तो यज्ञ का नितान्त व्यवहारिक स्वरूप इस तरह से कहा गया है जिसमें यह वर्णित है कि सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। वृष्टि के लिए यज्ञ की अपेक्षा है और यज्ञ श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन का श्रेष्ठ कर्म है। ईश्वर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं[१]।

वहाँ पर यज्ञ के महत्त्व के सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं[२]।

---

१. अन्नाद्भवन्तिभूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

गीता, पृ. ६९

२. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

वही, पृ. ६८

तैत्तरीय संहिता के एक उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि यज्ञ के निमित्त अग्नि की स्थापना करना ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य था। वहाँ पर यह लिखा है कि जिस ब्राह्मण के घर में वेदाध्ययन एवं वेदी (अर्थात् यज्ञार्थ अग्नि-स्थापन) का त्याग हो गया हो, वह तीन पीढ़ियो में दुर ब्राह्मण हो जाता है[१]। एक अन्य स्थान पर यह लिखा है कि ब्राह्मण यदि पौरोहित्य कर्म से अपनी जीविका न चला सके तो वह उस यज्ञ से भी अपनी जीविका प्राप्तकर सकता है जो ब्राह्मण के द्वारा ही सम्पादित हो सकती है[२]। वाल्मीकि रामायण में दिए गए एक सन्दर्भ में यह संकेत है कि त्रिशंकु के शाप प्राप्त होने पर विश्वामित्र ने उसके लिए यज्ञ करने का निश्चय किया था[३]।

उपनिषद् काल में यज्ञों कापूर्ण प्रतिष्ठापन जहाँ भौतिक रूप से था, वहीं उस समय उनकी लौकिक व्याख्या के साथ पारलौकिक व्याख्या भी होने लगी थी। वहाँ पर यह कहा गया है कि देवकार्यों का सम्पादन यज्ञ की वेदी पर होता है। तब यज्ञ धर्म स्कन्ध के रूप में स्वीकृत था[४]। उस समय अनेक बड़े-बड़े यज्ञ समायोजित किए जाते थे-ऐसा संकेत अनेकशः हुआ है[५]। एक कथन इसप्रकार का विवेचन करता था कि यज्ञ दक्षिणा में प्रतिष्ठित है, दक्षिणा श्रद्धा में प्रतिष्ठित है क्योंकि दक्षिणा श्रद्धापूर्वक दी जाती है[६]।

---

१. तै.सं. २/१/१०/१

२. जै. सू. ६/६/१८, कात्या.श्रौ. १/२/२८

३. बा.रा.बाल. ५९/१३-१४

४. छा.उ. २/२३/१

५. वही १/१०/७

६. बृ. उ. १/१०/७

महाराज जनक जी द्वारा किए गए यज्ञ का संकेत इस प्रकार का है जिसमें ब्राह्मणों के सम्मिलित होने का वर्णन है[१]। यज्ञ की आध्यात्मिक महत्ता का कथन इस रूप में है जिसमें यह कहा गया है कि आत्मा को जानने में यज्ञ भी सहायक है[२]।

भारतीय परम्परा में इसके अतिरिक्त भी यज्ञों का विधान है। पंचयज्ञ की परम्परा में ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्य यज्ञ कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त सात प्रकार के पाक यज्ञ तथा सात प्रकार के सोमयज्ञों का कथन किया गया है। सात प्रकार के पाक यज्ञों में अष्टका, श्राद्ध, श्रावणी आदि का कथन है। सोम यज्ञों में अग्निष्टोम, षोडशी, बाजपेय आदि सम्मिलित हैं[३]।

ऋग्वेद में एक स्थान पर तो यह कहा गया है कि यज्ञ करना न केवल ब्राह्मण का अपितु मानव का परम धर्म है।

ब्राह्मणों के कर्तव्यों में इसी भाव के कारण सम्भवत: यज्ञ को जोड़ा गया है और यह कहा गया है कि ब्राह्मण यज्ञ करे और यज्ञ करावे। पुराण भी इसी दृष्टि का समर्थन करते हैं।

---

१. बृ.उ. ३/१/१

२. स व एष महाजन आत्मा योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान: सर्वस्याधिपति: स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवा साधुना कनीयानेष..........ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनतपसानाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवन्ति। वही ४/४/२२

३. वै. सं.स., पृ. ३९

४. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।
ते ह नाकं महिमान:। ऋक १०/९६/१६

पुराणों में यज्ञ के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से विचार किया गया है और वहाँ पर यह कहा गया है कि जिस कर्म विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेद मंत्र, ऋत्विज और दक्षिणा इन पाँचों का संयोग हो,उसे यज्ञ कहते हैं[१]।

एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि यज्ञ से देव-देवताओं का वर्धन होता है, यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन-पोषण होता है इसलिए यज्ञ कल्याण के हेतु कहे जाते हैं[२]। एक और पुराण का भी लगभग यही मत है जिसमें यह संकेत है कि यज्ञ से देव पोषित होते हैं, यज्ञ से वृष्टि होकर मनुष्य अभिवर्धन को प्राप्त होते हैं, यज्ञ प्रायः सम्पूर्ण जगत् के पालन-पोषण का हेतु है[३]।

विष्णु पुराण में इसीलिए यह कहा गया है कि वेद निन्दक, स्वधर्म त्यागी और यज्ञ में बाधा पहुँचाने वाले को विविध प्रकार की नारकीय यातनाएँ मिलती हैं[४]।

---

१. देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।। म.पु.,पृ. ६९

२. यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः।
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याणहेतवः।। प.पु., सृष्टिखण्ड ३/१/२४

३. यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्टि युत्सर्गेण वै प्रजाः।
आप्यायन्ते तु धर्मज्ञ! यज्ञाः कल्याणहेतवः।। वि.पु. ६/१/८

श्रीमद्भागवत पुराण में यह कहा गया है कि जिस राजा के राष्ट्र में वर्णाश्रमधर्मियों के द्वारा यज्ञ पुरुष भगवान् का भजन होता है, उस पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् के प्रसन्न होने पर संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अप्राप्य है। यही भाव और भी विस्तारित है जहाँ पर यह कहा गया है कि यज्ञ से देवगण, समस्त प्रजा, अन्न जीवी प्राणी तथा यज्ञ पर सभी कुछ निर्भर है[२]। विष्णु पुराण तो यज्ञ के लिए यह लिखता है कि यज्ञादि क्रियाओं का कर्ता वही है, उनका फल भी वही है तथा यज्ञ के साधन स्रुवा आदि सभी हरि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं[३]। इसी कारण से पुराण ब्राह्मण के कर्म में यज्ञ को महत्त्व देते हैं।

---

१. यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः।।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने।
तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।। भा.म.पु. ४/१/१८

२. यज्ञाद् देवाः प्रजाश्चैव यज्ञाद् अन्ननियोगिनः।
सर्वं यज्ञात्सदा भावि सर्वं यज्ञमयं जगत्।। कालि. पु. ३१/४०

३. कर्ता क्रियाणां स च इज्यते क्रतुः स एव तत्कर्मफलं चतस्य।
स्रुगादि यत्साधनअप्येशषं हरेर्न किञ्चिद् व्यतिरिक्तमासते।। वि.पु. १/३/३४

## दान

ब्राह्मण के लिए कर्म निर्धारित करते समय उसे दान देने और दान लेने का अवसर भी दिया गया था। क्योंकि ब्राह्मण की जीविका शिक्षा देने से भी चलती थी। किन्तु केवल शिक्षा मात्र से जीविका की सम्भावना न होने से दान लेना भी ब्राह्मणों के कर्तव्यों में समाहित था। ब्राह्मणों के जीवन का आदर्श था निर्धनता, सादा जीवन, उच्चविचार और धनसंचय से दूर रहकर संस्कृति और धर्म की रक्षा करना। मनु ने कहा है कि एक ब्राह्मण उतना ही धन संचय करे जितना एक कुसूल अथवा कुम्भी में आ सके[१]। याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि यदि वे अपनी जीविका न चला सकें तो फसल कट जाने के बाद जो धान्य की बालियाँ खेत में गिर पड़ी हों, उनको चुन कर और उनसे अन्न प्राप्तकर अपना उदरपोषण करे। इसे ही मनु ऋत कहते हैं[२]।

कुछ आचार्य यह विधान कर गए हैं कि ब्राह्मण को अपनी जीविका के लिए राजा अथवा धनिक के पास जाना चाहिए[३]। मनु, याज्ञवल्क्य और वशिष्ठ का यह कहना है कि क्षुधा पीड़ित होने पर ब्राह्मण को राजा के पास अथवा अपने सुशिष्य के पास जाना चाहिए[४]। किन्तु इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण को अधार्मिक राजा से दान ग्रहण नहीं करना चाहिए।

---

१. मनु. स्मृ. ४/७

२. या.स्मृ. १/२८, म.स्मृ. ४/५

३. गौ.ध.सू. ९/६३, या.स्मृ. १/१००, वि.ध.सू. ६१/१

४. मनु.स्मृ. ४/३३, या.स्मृ. १/१३०, व.ध.सू. १२/२

ब्राह्मण के लिए यद्यपि दान लेकर अपनी जीविका चलाने का निर्देश प्राचीन समय में अवश्य था किन्तु ऐसा नहीं था कि इसके लिए किसी प्रकार की नीति अथवा प्रक्रिया निर्धारित न होवे। महर्षि मनु ने लिखा है कि यदि इच्छुक पात्र से ब्राह्मण को दान न मिले तो उसे अन्य योग्य व्यक्तियों के यहाँ जाना चाहिए और उनसे दान ग्रहण करना चाहिए[१]। यदि ऐसा भी न हो सके तो ब्राह्मण को यह भी सौविध्य था कि वह शूद्र तक से दान प्राप्त कर सकता है[२]।

इन सभी आचार्यों ने यह भी लिखा है कि राजा का यह कर्तव्य था कि वह ब्राह्मणों की जीविका का प्रबन्ध भली प्रकार से करे[३]।

किस ब्राह्मण को दान देना चाहिए और कौन ब्राह्मण दान लेने के योग्य है, इसका भी संकेत स्मृतिकार करते हैं। कहा यह गया है कि जिसने वेद का अध्ययन न किया हो, जो कपटी होवे, लालची हो उसे दान देना व्यर्थ है। अपितु यदि ऐसे ब्राह्मण को दान दिया जाता है तो दाता को नरक का भोग करना पड़ता है[४]। कहा यह गया है कि जो ब्राह्मण पड़ोसी है उसे दान देना चाहिए किन्तु वह मूर्ख और अयोग्य हो तो दूर जाकर योग्य और विद्वान् को दान देना चाहिए।

---

१. गौ. ध.सू. १७/१-२

२. मनु.स्मृ. १०/१०२-१०३

३. गौ.ध.सू. १०/९-१०, याज्ञ. स्मृ. ३/४४

४. मनु. स्मृ. ४/१९२-१९४

५. व.ध.सू. ३/९-१०, मनु. स्मृ. ८/३९२

ब्राह्मणों के द्वारा दान प्राप्त करने के लिए और भी अनेक प्रकार के विधान किए गए थे जिनमें यह बार-बार कहा गया था कि दान किसी के भी द्वारा किसी को भी दिया जा सकता था किन्तु दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था। अर्थात् दान लेने का विशेषाधिकार केवल ब्राह्मण को ही था। यह अवश्य संकेत था कि दाता यह विचार कर सकता था कि उसे किस ब्राह्मण को दान देना है और किसे नहीं। क्योंकि दान लेने की योग्यता उसी ब्राह्मण में थी जो अपने माता-पिता और गुरु के प्रति सत्य हो, जो दरिद्र हो और सकरुण हो। दान लेने वाले ब्राह्मण के लिए यह भी आवश्यक था कि वह इन्द्रिय-निग्रही होवे[१]।

महर्षि गौतम, मनु तथा व्यास आदि ऋषि यह लिखते हैं कि जिसने सभी वेदों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है ऐसे ब्राह्मणों को जन्म से ही दान लेने का अधिकार है। अब्राह्मण को दान देने से जो पुण्य प्राप्त होता है, ब्राह्मण को दान देने से उससे सहस्त्रगुणाफल अधिक प्राप्त होता है[३]।

दान देने के लिए सभी को प्रोत्साहित किया गया है और यह कहा गया है कि ब्राह्मण को दान देना परम श्रेष्ठ कार्य है और इसका पालन सभी को करना चाहिए।

---

१. ब.ध.सू. ६/२६, याज्ञ.स्मृ. १/२००

२. गौ.ध.सू. ५/१८, मनु.स्मृ. ७/८५, व्यास. स्मृ. ४/४२

३. समद्विगुणसाहस्त्रनन्त्यानि फलान्यब्राह्मण श्रोत्रिय वेद पारगेभ्य:।
गौ.ध.सू. ५/१८

४. सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे.......। मनु. स्मृ.७/८५

दान की महत्ता का और ब्राह्मणों को दान देने का विधान पुराणों में भी स्वीकार किया गया है। बलि और वामन के प्रसंग में बलि ने तो वामन से यहाँ तक कहा था कि वटु! तुम तीन पग पृथिवी की याचना करके और आगे याचक क्यों बने रहना चाहते हो? ऐसी भिक्षा किस अर्थ में सार्थक है जहाँ भिक्षा मांगने वाला सदा भिक्षुक ही बना रहे। तुम तो ऐसा मांग लो जिससे फिर किसी के सामने तुम्हें हाथ न फैलाना पड़े[१]। इसी प्रकार जब आचार्य शुक्र को यह ज्ञात हो गया कि भिक्षुक के रूप में सामने खड़ा याचक एक साधारण याचक नहीं है अपितु यह तो साक्षात् विष्णु हैं तो उन्होंने अपने शिष्य को सचेत किया और कहा कि तुम सावधान होकर दान देने की प्रतिबद्धता स्वीकार करना। तुम्हारे सामने खड़ा हुआ याचक तुम्हें छलने के लिए आया है। इसके उत्तर में जो बलि ने कहा, उसका अभिप्राय भी यही है कि मेरे दान न देने से यदि ब्राह्मण असन्तुष्ट हो गया अथवा उसकी पूर्ति न हुई तो मेरा दाता होना ही निरर्थक है[२]।

दान की विशिष्टता और उससे ब्राह्मण को संतुष्ट करने की महत्ता का संकेत अन्य पुराणों में भी किया गया है। और यह कहा

---

१ मा बचोमिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम्।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम्।।
न पुमान् मामुपवृज्य भूयो याचुतमर्हति।
तस्मात् वृत्तिकारी भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे। भा.म.पु.,पृ. ४२२

२. सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्धं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत् कर्हिचित्।।
यत् यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् सम्परेतकम् धनादिकम्।
तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन न तेन चित्।। वही., पृ. ४२३

गया है कि जो वस्तु स्वयम् को अधिक रुचिकर लगती हो यदि उसका दान करके कोई ब्राह्मण को संतुष्ट करता है तो निश्चय रूप में वह विष्णु लोक की प्राप्ति का अधिकारी होता है[१]। इसी प्रकार से ब्राह्मण के लिए निवासार्थ घर देने और दूध के लिए गाय देने के महत्त्व का भी पर्याप्त रूप से कथन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण को निवास करने का स्थान देता है, वह भगवान् के लोक की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। और जो ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण के लिए दुग्ध देती हुई गाय प्रदान करता है, वह उस लोक का अधिकारी होता है, जो लोक बहुत ही कम लोगों को मिलता है[२]।

विष्णु पुराण में इसी प्रकार से कहा गया है कि श्राद्ध में ब्राह्मण का आमंत्रण कर उसे भोजन कराकर श्रद्धानुसार दक्षिणा देकर विदा करना चाहिए[३]। एक पुराण में तो यह कहा है कि अन्य वर्ण कृषि कार्य का तीसवाँ भाग ब्राह्मण को दान करे। वहाँ पर यह भी कथन है कि ब्राह्मण शुद्ध और सात्विक जीवन जीने वालों से याचना कर अपना जीवन चलावे[४]।

---

१. यद्यदिष्टतमं वस्तु तत्तद्विप्राय दापयेत्।
स याति विष्णुभुवनं पुनरावृत्तिर्लभम्।। ना.पु. (१), पृ. २०३

२. यो ददाति महीपाल निवासं ब्राह्मणाय वै।
तस्य प्रसन्नोदेवेश: स्वलोकं संप्रयच्छति।।
ब्राह्मणाय ब्रह्मविदे यो दद्यात् गां पयस्विनीम्।
स याति ब्रह्मसदनमन्येषामति दुर्लभम्।। वही. पृ. २७६

३. वि.पु. (१), पृ. ४५८

४. कू.पु.,पृ. १२६-१२७

**क्षत्रिय**

क्षत्रिय वर्ण के सम्बन्ध में प्राचीन समय से ही उल्लेख प्राप्त है। जैसे कि कहा गया है कि राजन्! वह बड़ा या महान् राजा होता है और मुकुट धारण करके वह सभी का अधिपति बन जाता है। वह अधिपति होने के साथ-साथ धर्म का भी रक्षक होता है। शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि क्षत्रिय को कोई भी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ब्राह्मण के पास जाना चाहिए। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के सहयोग से यश मिलता है[२]।

वेद का यह संकेत बहुत ही प्रचलित है कि क्षत्रिय भगवान् की भुजाओं से उत्पन्न हुए हैं। उपनिषद् इस सन्दर्भ में यह कहती है कि ब्रह्म ने अकेले होने पर विभूतियुक्त कर्म करने में स्वयम् को असमर्थ पाया इसलिए सामर्थ्य से युक्त क्षत्रिय की उत्पत्ति की। इस उत्पत्ति के साथ यह भी कहा गया है कि क्षत्रिय से बढ़कर कोई नहीं है इसलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करते हैं और उसी में ब्राह्मणत्व का अनुभव करते हैं[३]।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि ब्रह्मविद्या पर यद्यपि ब्राह्मण का अधिकार था तथापि क्षत्रियों का आधिपत्य भी सर्वत्र था[४]।

---

१.. क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि............
ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि। ऐत. ३९/३

२. श.ब्रा. ४/१/४/६

३. ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूप मत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुण: सोमोरूद्र: पर्यजन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मण: क्षत्रियमधस्मतादुपासते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म।
ई.द्वा.उ., पृ. २८

४. छान्दो, पृ. ४७९

एक उपनिषद् का यह कथन है कि जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं उसी प्रकार चार वेद, ब्राह्मण और क्षत्रिय में हैं[1]।

स्मृतियों में क्षत्रिय के लिए जो लिखा गया है उसके अनुसार यह कहा गया है कि प्रजा की रक्षा में अपनी शक्ति का उपयोग करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना तथा विषयों में अधिक सम्पृक्त न रहना-क्षत्रिय के लिए निर्धारित कर्तव्य हैं[2]। एक स्मृति में तो मिताक्षराकार ने यह लिखा है कि क्षत्रिय का प्रजापालन प्रधान कर्तव्य है। अर्थात् यही कर्म उसके लिए प्रधान है[3]। श्रीमद् भगवत् गीता में क्षत्रिय का जो धर्म कहा गया है, उसके अनुरूप यह प्रतिपादित है कि शौर्य, वीर्य, धृति, तेज, त्याग, आत्मजय, क्षमा, ब्रह्मण्यता, प्रसाद, सत्य क्षत्रिय के लक्षण हैं[4]।

इस रूप में यदि पुराण परम्परा में देखा जाए तो लगभग ऐसी ही भावना का प्रदर्शन वहाँ पर भी किया गया है। श्रीमद् भागवत् महापुराण में क्षत्रिय के सन्दर्भ में जो कहा गया है उसके अनुरूप क्षत्रिय के लिए प्रजा की रक्षा करने का काम महत्त्वपूर्ण रीति से करने के लिए निर्देश है। इसके साथ ही वहाँ यह भी कथन है कि राजा के रूप में जो क्षत्रिय हो, वह ब्राह्मण से इतर जनों से कर लेकर ही प्रजा का पालन करे[5]।

---

१. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचोयजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।। प्र.अ., पृ. ३६, हि.स.पृ. ११२

२. प्रजानां रक्षणं दानभिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। मनु. स्मृ. २/८९

३. मिताक्षरा, पृ. ५३

४. शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजः त्यागश्चात्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यञ्च क्षत्रलक्षणम्।। गीता ७/११

५. राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः। भा.पु.,पृ. ३७६

इसी तरह भागवत महापुराण में एक अन्य स्थान पर यह लिखा है कि क्षत्रिय के लिए तेज, बल, धृति, शौर्य, तितिक्षा, औदार्य, उद्यम, स्थैर्य आदि ऐसे गुण हैं जो उसका पूर्ण परिचय देते हैं[१]। एक अन्य पुराण में यह संकेत है कि दान, यज्ञ और अध्ययन क्षत्रिय का धर्म है। क्षत्रिय के लिए यह भी कथन है कि वह अन्याय के पथ पर चलने वाले के लिए दण्ड का विधान करे और युद्ध में प्रवृत्त होकर अपने धर्म का पालन करे[२]।

एक सन्दर्भ में इस प्रकार का कथन है जिसमें यह कहा गया है कि क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मणों को उनकी इच्छानुसार दान देवे, अनेक प्रकार के यज्ञों को करे तथा सर्वदा अध्ययनशील रहे। शस्त्र धारण पूर्वक पृथिवी की रक्षा करना क्षत्रिय की श्रेष्ठ आजीविका है और इसमें से पृथिवी का पालन करना तो उनका परम धर्म है[३]।

---

१. तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्र प्रकृतिस्त्विमाः।। भा.पु.,पृ.७००

२. दानमध्ययनं यज्ञो धर्मः क्षत्रियवैश्ययोः।
दण्डो युद्धं क्षत्रियस्य..............।। कू.पु..पृ.५

३. दानानि दद्यादिच्चातोद्विजेभ्यः क्षत्रियोऽपि वा।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैरधीत च पार्थिवः।।
शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य जीविका।
तत्रापि प्रथमः कल्पः पृथिवी परिपालनम्।। वि.पु.(१),पृ.४०३

एक पुराण में क्षत्रिय के कर्तव्यों का बहुत ही विस्तार से कथन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि क्षत्रिय के लिए यह उचित है कि वह ब्राह्मणों का तृप्ति विधान करे, बन्धुवर्ग की अभिलाषा पूर्ण करे, हृदय में परहित की कामना सर्वदा रखे और पर स्त्री के प्रति कभी भी कामना वाला न होवे। मार्कण्डेय पुराण में मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को जो उपदेश दिया, वह प्रमुख रूप से तो राजा के धर्म के रूप में कहा गया है। वहाँ जब वर्ण धर्म का कथन किया गया है तो दानदेना, यज्ञ करना, अध्ययन करना क्षत्रिय के कर्तव्य रूप धर्म गिनाए गए हैं। पृथिवी की रक्षा करना और शस्त्र चलाना उनकी आजीविका के साधन माने गए हैं। और यह कहा गया है कि जो अपने धर्म का पालन करता है, वह अपने जीवन में सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है और जो कोई वर्ण धर्म के विरुद्ध आचरण करता है, वह नरक का अधिकारी बनता है।

---

१. पुत्र वर्धस्व में भर्तुर्मनो नंदय कर्मभिः।
ऐहिकामुष्मिकफलं तत् सम्यक् परिपालय।।
मित्राणामुपकाराय दुर्हृदां नाशनाय च।
धरामरान्पर्वसु तर्पयेथाः समीहितं वंधुषु पूरयेथाः।
हितं परस्मै हृदि चिंतयेथा मनः परस्त्रीषु निवर्तयेथाः।।
दानमध्ययनं यज्ञाः क्षत्रियस्याप्ययं त्रिधा।
धर्मः प्रोक्तं क्षिते रक्षा शस्त्राजीवश्च जीविका।।
स्ववर्णधर्मात् संसिद्धिं नरः प्राप्नोति न च्युतः।
प्रयाति नरकं प्रेत्य प्रतिषिद्ध निषेवणात्।। मा.म.पु.,पृ. ९७-१०३

इसी प्रकार से एक अन्य सन्दर्भ में भी क्षत्रिय के कर्तव्यों के साथ-साथ उसकी जीविका के साधनों का भी आख्यान किया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि क्षत्रियों को ब्राह्मणों को दान देना चाहिए। वेदों का अध्ययन करना चाहिए और यज्ञों के यजन द्वारा देवताओं का अर्चन करना चाहिए। इसके साथ ही वहाँ पर यह कहा गया है कि वह शस्त्रों की वृत्ति से अपनी आजीविका चलावे तथा धर्म के साथ पृथिवी का पालन करता हुआ दुष्टों को दण्ड देवे। उसका यह कर्तव्य है कि दुष्ट दमन के साथ सत्पुरुषों की रक्षा करना उसका कर्तव्य है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे कर्तव्य रूप धर्मों का निरूपण वहाँ पर है जो सभी वर्णों के लिए समान रूप से लागू होते हैं। अर्थात् ऐसे कर्तव्य जिनका पालन करना सभी वर्णों के लिए समान रूप से लाभकारी है। इसमें हित की कामना करना, मंगलवाचक और प्रिय भाषण करना, हर्ष और सहनशीलता का स्वभाव रखना, अधिक मान न रखना। इन सबका पालन सभी के लिए कर्तव्य रूप धर्म है[१]।

---

१. दधाद्दानानि विप्रेम्य: क्षत्रियोऽपि द्विजोत्तम्।
कुर्याच्च वेदग्रहणं यज्ञैर्देवान्यजेत्तथा।।
शस्त्रजीवी भवैच्चैव पालयेद् धर्मतो महीम्।
दुष्टानां शासनं कुर्यात् शिष्टानां पालनं तथा।।
ऋतुकालाभिगामी च स्वदारेषु भवेत्तथा।
सर्वलोकहितैषित्वं मंगलं प्रियवादिता।।
सामान्यं सर्ववर्णानां मुनिभि: परिकीर्तितम्।। ना.पु. (१), ४४४-४४५

**क्षत्रिय राजा के रूप में**

वैदिक काल में ही क्षत्रिय का दूसरा नाम राजन्य रहा है। इस नाम से ही यह संकेत मिलता है कि इस वर्ण में राजा होने की क्षमता थी और प्राचीनकाल से ही यह राजा रहा है। संकेत इस प्रकार के मिलते हैं कि क्षत्रिय या तो अपने वाहुबल से राजा बन जाते थे अथवा वे शान्ति और सुरक्षा का दायित्व लेकर सैनिक के कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। शासन सूत्र के संचालन में क्षत्रियों की बुद्धि और शक्ति का प्रयोग होता था। जो क्षत्रिय राजा होता था, वह प्रजा से कर लेकर अपना राज्य चलाता था और जो सैनिक होते थे, वे वेतनभोगी होकर अपनी आजीविका चलाते थे[१]।

क्षत्रियों का तो यह भी उद्घोष था कि ब्रह्मविद्या के वे ही आदि प्रर्वतक हैं, इसलिए उनका ही प्रशासन सर्वप्रथम सभी लोकों में प्रचलित हुआ[२]।

प्राचीनकाल में यह सन्दर्भ आता है कि तब के राज्यों की स्थापना में और राज्य शक्तियों के उदय में यज्ञों का माध्यम एक सशक्त माध्यम था। एक संकेत इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि राजसूय यज्ञ द्वारा राजा, बाजपेय यज्ञ में सम्राट्, अश्वमेध यज्ञ से स्वराट्, पुरुषमेध यज्ञ से विराट् और सर्वमेधयज्ञ से सर्वराट् बननेकी बात है।

एक अन्य सन्दर्भ में भी साम्राज्य, भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठय, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, समन्तपर्यायी, सार्वभौम आदि शक्तियों की चर्चा है[४]।

---

१. प्रा.सा.सां.अ.,पृ. ७९

२. यथेयं न प्राकृत्वन्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्य प्रशासनं अभूत।
छा.उ.५/३/७

३. हि.स., पृ. ९९

४. ऐ. ब्राह्म. ८/१५

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक सन्दर्भ से यह संकेत मिलता है कि विदेहराज को सम्राट् पद से संबोधित किया गया था। इससे यह संकेत दिया जाता है कि उनका राज्य विस्तृत और विशाल सीमा वाला था[१]। इस पद की प्राप्ति के लिए वहाँ विश्वेदेव सम्बन्धी साम का कथन किया गया है।

राजा और राज्य की तब यह भूमिका थी कि आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा भली प्रकार बनी रहे। इसी प्रकार तब विद्या के प्रचार-प्रसार में भी राजा का महत्वपूर्ण योगदान होता था और इसीलिए वह विविध यज्ञों के अवसर पर विद्वत् सम्मेलनों का समागम आयोजित करता था। यज्ञों के अवसर पर ब्राह्मणों और विद्वानों को दक्षिणा के अतिरिक्त गौ, ग्राम और राज्य भी दिए जाते थे जिससे यह प्रतीत होता था कि राज्य और राजा शिक्षा तथा संस्कार के कार्यों में पर्याप्त रुचि लेते थे[४]।

संकेत यह भी है कि तब के समय में राजाओं के औदार्य स्वभावी होने पर भी भिक्षाचर्या से अपना जीवन चलाने वाले लोग भी थे। राजा याचकों और निराश्रितों के लिए भोजन शालाओं की व्यवस्था करता था, और चाहता था कि निराश्रित उसकी व्यवस्था से लाभान्वित होवें[५]।

---

१. बृ. उ. ४/१/१
२. वही २/२४/१३
३. बृ. उ. ३/१/१
४. छा.उ. ४/२/३, ४/२/५, ४/२/४, ३/१/१
५. कौ. उ. २/१-२

पुराणकारों ने क्षत्रियों के संबंध में तो विस्तार से लिखा ही है, राजाओं के कर्तव्यों का आख्यान की विस्तारपूर्वक किया है। श्रीमद्भागवत् महापुराण में यह कहा गया है कि जिस राजा के राज्य में प्रजा त्रस्त होती है उस राजा की कीर्ति, आयु और ऐश्वर्य नष्ट हो जाते हैं। राजाओं का परमधर्म है कि वे आर्तजनों की रक्षा हर स्थिति में करें[१]।

प्रजापालन में दक्षता और सम्पूर्ण प्रजा को अपने-अपने कर्म में रत रखने के लिए प्रेरित करना भी राजा के कर्तव्यों में निहित है। एक स्थान पर राजा बाहु के चरित्र का वर्णन करते हुए कहा गया है कि राजा ने अपने शासनकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त किया था। इसलिए उसे प्रजापति के रूप में कहा गया है। वह ऐसा धर्म परायण राजा था जिसने सातो द्वीपों में सात अश्वमेध यज्ञ किए थे। उस राजा ने सभी ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में गो, हिरण्य, भूमि आदि प्रदान की थी। उसने सभी प्रकार के दुष्टों और प्रजापीडकों को इसप्रकार नियन्त्रित किया था कि राजा की प्रशंसा सभी ओर हो रही थी। उसके राज्य में सभी प्रसन्न और सन्तुष्ट थे[२]।

---

१. यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्यसाधुभिः।
तस्य मन्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गति।।
एष राज्ञां परो धर्मो ह्यातनिमार्ति निग्रहः। भा.म.पु.,पृ. ८१

२. ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्चान्ये च जन्तवः।
स्थापिताः स्वस्वधर्मेषु तेन बाहुः विशांपतिः।।
अश्वमेधैरियाजासौ सप्तद्वीपेषु सप्तभिः।।
अतर्पयदभिः देवान्......................।।
भूषिता भूषितैर्दिव्यैस्तद्राष्टे सुखिनो मुने।। ना.पु.(१), पृ. १२६-१२७

श्रीमार्कण्डेय पुराण में मदालसा ने अपने क्षत्रिय पुत्र को राज्य के संबंध में जो उपदेश किया है, वह राजनीति का एक बड़ा मंत्र सा है। वह कहती है कि राजा पहले स्वयम् को वश में करे फिर मंत्रियों को तब परिचारक वर्ग को और बाद में प्रजा को वश में करे। ऐसा करने के बाद ही राजा के लिए यह उचित है कि वह शत्रु से वैर करे। जो ऐसा किए बिना शत्रु से वैर करता है, वह अमात्यों से विजित होकर शत्रुओं के वशीभूत हो जाता है[१]।

मदालसा ने कहा कि जो राजा कुमार्ग में पड़े हुए को अपने वश में लाता है, वह स्वर्ग प्राप्त करता है। जिस राजा के राज्य में वर्णाश्रम धर्म का पालन होता है, वह सदा स्वर्ग का अधिकारी बनता है। बुद्धिमान पुरुषों के परामर्श से सदा कार्य करना और सभी को अपने-अपने धर्म में स्थापित कराना ही राजा का परम धर्म है[२]।

---

१. प्रागात्ममंत्रिणश्चैव ततोभृत्या महीभृता।
ज्ञेयाश्चानन्तरं पौरा विरुध्येत ततोऽरिभिः।।
यस्त्वेतानविजित्यैव वैरिणो विजिगीषते।
सो जितात्मा जितामात्यः शत्रुवर्गेण बाध्यते।। भा.पु.,पृ. १०२

२. न लोभार्थैर्न कामार्थैर्नार्थार्थैर्यस्य मानसम्।
पदार्थैः कृष्यते धर्मात्स राजा स्वर्गमिच्छति।।
उत्पथग्राहिणो मूढान्स्वधर्मच्चलितान्नरान्।
यः करोति निजे धर्मे स राजा स्वर्गमिच्छति।
वर्णाधर्माः न सीदन्ति यस्य राष्ट्रे तथाश्रमाः।
राज्ञस्तस्य सुखं तात परत्रेह च शाश्वतम्।। वही, पृ. १०३

## राष्ट्र के प्रति क्षत्रिय का धर्म

क्षत्रिय राजन्य होते थे और उनके लिए यह विधान था कि राज्य की रक्षा करें इसलिए उनका यह कर्तव्य भी होता था कि वे साधु स्वभावी होकर काम-क्रोधादि से उपरम होकर अपने जीवन को संयमित बनावें। आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि राजा काम-क्रोधादि षट् शत्रु वर्गों पर विजय प्राप्त करके अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखे। वह विद्वान् पुरुषों की संगति में रहे और निरन्तर अपनी बुद्धि का विकास करता रहे। अपने सच्चरित गुप्तचरों के द्वारा राष्ट्र तथा परराष्ट्र के वृतान्त से अवगत रहे। उद्योगों के द्वारा राज्य के योग-क्षेम का सम्पादन करे। राज्य के नियमों के द्वारा अपने-अपने धर्म पर दृढ़ रहने के लिए प्रजा पर नियन्त्रण करे। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहे और प्रजाजनों को धन तथा सम्मान देकर स्वयम् को लोकप्रिय बनावे[१]।

आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि अकेले राजा ही राज्य की रक्षा नहीं कर सकता, इसलिए उसे चाहिए कि वह बुद्धिमत्ता पूर्ण ढंग से अमात्यों की नियुक्ति करें और यदि राजा अनियन्त्रित होकर कुमार्ग पथगामी हो रहा है तो गुरुजन सदा उसे सावधान करते रहें[२]।

---

१. तस्माद्षड्वर्ग त्यागेनेन्द्रियजयं कुर्यौत। वृद्धसंयोगेन प्रज्ञां, चारेण चक्षु उत्थानेन योगक्षेमसाधनं, कार्यानुशासनेन स्वधर्म स्थापनं, विनयं विद्यापदेशेन, लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन, हितेन वृत्तिम।
कौ.अ.शा.,पृ.२३

२. मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान् वा। य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। छायानालिकाप्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्त-मभितदेयुः। वही, पृ. २४

राष्ट्र रक्षा राजा के लिए एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है। इसलिए जो राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता हुआ स्वयं का बलिदान कर देता है वह योगियों के समान मृत्यु को प्राप्त करता है और स्वर्ग का भागीदार बनता है। इसी तरह से जिस राजा के सैनिक और अश्वादि युद्ध में मारे जाते हैं और वह अपना पग फिर भी पीछे नहीं करता। उसका एक-एक पग एक-एक यज्ञ के फल के सदृश होता है[१]।

राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त में महर्षि मनु ने यह कहा है कि क्योंकि समाज को सभी ओर से भय है, और राजा उससे सभी की रक्षा करेगा, इसी निमित्त उसकी उत्पत्ति हुई है[२]।

राजा के लिए राज्य रक्षा के सन्दर्भ में और भी विस्तार से कहा गया और यह मन्तव्य व्यक्त किया गया है कि प्रजा की रक्षा करना ही क्षत्रियों का प्रमुख धर्म है। जो क्षत्रिय राजा होकर इस प्रकार से धर्म का आचरण करता है, वह धर्म के फल का भोक्ता होता है।अर्थात् प्रजा की रक्षा राजा के द्वारा किए गए धर्म के पालन के सदृश है[३]।

---

१. य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा।।
पदानिक्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम्।
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्।। या.स्मृ.,पृ. १४५-१४६

२. अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः।। म.स्मृ., पृ.२४१

३. क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते।। वही., पृ. २६८

पुराणों में राजधर्म से सम्बन्धित अनेक प्रकार के नीति वचन उपलब्ध हैं। वहाँ पर यह विचार किया गया है कि प्राचीन समय में राजा की उत्पत्ति क्यों हुई थी? राजा के कितने अंग तथा उपांग होते हैं। साम,दाम, दण्ड और भेद की चार राजनीतियाँ कब से उपयोग में लाई गई। राजा के लिए प्रजा के निमित्त पृथिवी का रक्षण करना और पृथिवी से प्राप्त समस्त सम्पत्तियों को प्रजा के लिए सुरक्षित रखना ही महत्वपूर्ण होता था। मत्स्य पुराण में यह कथा आई है कि राजा पृथु ने पृथिवी का दोहन किया और उसे प्रजा के योग्य बनाया। राजा पृथु के समय इसीलिए न कोई दरिद्र था, न कोई रोगी था और न कोई पाप कर्म में प्रवृत्त था। राजा के राज्यकाल में किसी भी प्रकार के उपसर्ग अर्थात् भौतिक या आधिभौतिक उपद्रव का भय ही नहीं था। सभी जन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए अपना समय व्यतीत करते थे। राजा का राज्य, उसकी शक्ति से इतना अधिक सुरक्षित था कि न तो दुर्ग थे और न ही शस्त्र-अस्त्र धारण करने वाले सेवक[१]।

राजधर्म के निर्वाह में और राजधर्म के पालन में एक सबसे बड़ा हेतु पुराणकार यह बताते हैं कि राजा को अपनी प्रजा का ध्यान सर्वतो भावेन रखना चाहिए। राजा हरिश्चन्द्र के कथानक में ऐसा ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि

---

१. आयुर्धनानि सौख्यं च पृथौ राज्यं प्रशासति।
न दरिद्रस्तदा कश्चिन्न रोगी न च पापकृत्।।
नोपसर्गभयं किंचित् पृथौ राजनि शासति।
नित्यं प्रभुदिता लोका दुःखशोकविवर्जिताः।।
न पुरग्रामदुर्गाणि न चायुधधरा नराः।
क्षयातिशयदुखं च नार्थशास्त्रस्य चादरः।। म.पु.,पृ.३३

हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता से प्रसन्न होकर जब इन्द्र ने स्वर्गलोक में जाने के लिए कहा तो राजा ने उत्तर दिया कि महाराज! मैं भला अकेले स्वर्गलोक कैसे जा सकता हूँ। जब तक मेरी प्रजा दुःख का अनुभव करती हुई मेरे राज्य में रह रही है[१]।

श्री रामचरित के सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत महापुराण में यह लिखा हुआ है कि श्रीराम ने वन से लौटने के पश्चात् मन में किसी के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं रखा। उन्होंने सम्पूर्ण प्रजा को वर्ण धर्म तथा आश्रम धर्मपालन मे प्रवृत्त किया और स्वयं भी वर्णाश्रम धर्म के पालन में पूर्ण प्रवृत्त रहे। उन्होंने पितृभाव से प्रजा का पालन किया। अर्थात् वे प्रजा का पालन इस प्रकार से करते थे, जैसे कोई पिता अपने पुत्रों का पालन करता है। इसी तरह से वे प्रजा में जो भी ज्येष्ठ थे और वरिष्ठ थे उनके प्रति पिता का भाव रखते थे[२]।

---

१. मच्छोकमग्नमनसः कोशलानगरे जनाः।
तिष्ठन्ति तानपोह्याध कथं यास्याम्यहं दिवम्।। मा.पु.,पृ. ३८

२. अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः।।
प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः।।
जुगोप पितृवद् रामो मेनिरे पितरं च तम्।
त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूत सुखावहे।। भा.म.पु.,पृ. ४५३-४५४

## वैश्य

वैश्य की उत्पत्ति के संबंध में यह कहा गया है कि वह ब्रह्म विभूति कर्म करने में सक्षम नहीं हुआ, इसलिए उसने वैश्य जाति की उत्पत्ति की। इसलिए जो रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् इत्यादि हैं इन्हें एक-एक गण के रूप में उत्पन्न किया[१]। प्रारम्भ से ही यह धारणा भी व्यक्त की गई है कि वैश्यों की उत्पत्ति धनोपार्जन हेतु की गई थी[२]।

महर्षि व्यासोदित श्रीमद्भगवद् गीता वैश्यों के सम्बन्ध में जो संकेत करती है उसके अनुरूप यह कहा गया है कि कृषि कार्य करना, गोरक्षा करना, वणिकवृत्ति का आश्रय लेना वैश्य का स्वभावगत कार्य है[३]। महर्षि मनु ने भी इसीप्रकार से यह लिखा है कि पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययनमें प्रवृत्त रहना, वाणिज्य के द्वारा जीविका अर्जित करना वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं[४]। महर्षि याज्ञवल्क्य भी मनु के द्वारा बताए गए कर्मों को ही वैश्य के लिए निर्धारित करते हैं और लिखते हैं कि वैश्य व्याज लेकर, कृषि के द्वारा, वाणिज्य और पशुपालन के द्वारा अपनी जीविका चलावे[५]।

---

१. स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रूद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। ई.द्वा.उ.,पृ. २८१

२. उ.स.सं., पृ.५४

३. कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। भ.गी.१८/४४

४. पशूनां रक्षणन्दानभिज्याध्यमनमेव च।
वाणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। म.स्मृ. १/९०

५. कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशः स्मृतम्।। या.स्मृ.,पृ. ५३

पुराणों में संकेत के रूप में वैश्यों के लिए जो कर्तव्य अथवा कर्तव्य रूप धर्म कहे गए हैं उसके अनुसार यह कहा गया है कि दान देना, अध्ययन करना, यज्ञ कराना, पशुपालन करना तथा वैश्य के लिए निर्धारित व्यापार करना और कर्तव्य हैं। इनमें से दान देना, अध्ययन करना और यज्ञ करना उनके धर्म हैं जबकि पशुपालन, वाणिज्य और कृषि उनकी जीविका के साधन हैं[१]। एक दूसरे सन्दर्भ में यह कहा गया है कि वैश्य का सामान्य धर्म पशु पालन करना, व्यापार करना, कृषि कार्य का सम्पादन कराना और अध्ययन करना धर्म है[२]। यद्यपि कूर्म महापुराण में भी कहा वही गया है, जो अन्य पुराणों में कहा गया है तथापि इसकी कथन शैली इस रूप में भिन्न हैं जिसमें यह कहा गया है कि दान, अध्ययन और यज्ञ क्षत्रिय तथा वैश्य के धर्म हैं किन्तु कृषि कर्म वैश्य के लिए प्रशस्य है[३]। महर्षि व्यास ने विष्णु पुराण में जो लिखा है उसके अनुरूप यह कहा गया है कि वैश्यों के कर्म पशुपालन, वाणिज्य और कृषि आजीविका के रूप में हैं किन्तु अध्ययन, यज्ञ,

---

१. दानमध्ययनं यज्ञो वैश्यस्यापि त्रिधैव सः।
वाणिज्यं पाशुपाल्यं च कृषिश्चैवास्य जीविका।। मा.पु.,पृ. १०४

२. पाशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिश्च द्विजसत्तम्।
वेदस्याध्ययनं चैव वैश्यस्यापि प्रकीर्तितम्।। ना.पु.(१), पृ. ४४४

३. दानमध्ययनं यज्ञो धर्मः क्षत्रियवैश्ययोः।
दण्डो युद्धं क्षत्रियस्य कृषिर्वैश्यस्य शस्यते।। कू.पु.,पृ. ५

दान और नित्य, नैमितिक कर्म उनके लिए अनुकूल हैं[1]।

श्रीमद्भागवत महापुराण का यह प्रतिपादन है कि वैश्य के लिए वार्तावृत्ति श्रेयस्कर और इसके साथ ही नित्यप्रति ब्रह्मकुल के अनुगामी रूप में रहना उसके लिए श्रेयस्कर है[2]। यहाँ पर वार्ता विद्या से अभिप्राय भागवतकार का सम्भवत: इसी से हो सकता है जिसमें आचार्य कौटिल्य ने वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन और व्यापार को माना है। कौटिल्य ने लिखा है कि यह विद्या धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थों के माध्यम से उपकारक है और मनुष्य के जीवन को सुख देने वाली है[3]।

इस रूप में यदि देखा जाए तो वैश्यों के लिए जो धर्म और कर्तव्य कहे गए हैं, वे प्राय: एक से ही सभी पुराणों में हैं किन्तु उसके कथन की शैली में भिन्नता हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कृषि और व्यवसाय को वैश्यों के लिए मुख्य रूप से कहा गया है।

---

१. पाशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषि च मनुजेश्वर।
वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोक पितामहः।।
तपस्याध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च शस्यते।
नित्यनैमित्तिकादीनामनुष्ठानं च कर्मणाम्।। वि.पु.(१), पृ. ४०४

२. वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्य नित्यं ब्रह्मकुलानुगः। भा.पु.,पृ. ३७६

३. कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिणी। कौ.अ.,पृ. १५

## व्यापार

वैश्य वर्ण के संबंध में पूर्व सन्दर्भों के सातत्य में यह कहा जा सकता है कि इस वर्ण को ही व्यापार करने की शक्ति प्राप्त थी। स्थान-स्थान पर यह कहा गया है कि यह वणिक के पथ से अपनी जीविका कार्य करेगा। किन्तु वैश्य के द्वारा किए जाने वाला व्यापार विधान के अन्दर ही था। कोई भी ऐसा नहीं कर सकता था कि व्यापार करने से उसे ही लाभ होवे और सामान्य प्रजा कष्ट का अनुभव करे। इसके लिए यह विधान कौटिल्य ने किया है कि जो कोई वैश्य अर्थात् व्यापार करने वाले तोलने में लेन-देन में और व्यापारिक व्यवहार में अन्याय का आचरण करता हो तो उसे राज्य की ओर से दण्डित किया जाना चाहिए[१]।

वैश्य के लिए व्यापार के साथ-साथ एक और सुविधा का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि वह व्याज (कुसीद) भी ले सकता है। यह विधान कई स्थानों में किया गया दिखता है। आचार्य मनु व्याज लेने की अनुमति व्यापार के साथ-साथ देते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य भी यही लिखते हैं कि वैश्य व्यापार के साथ-साथ व्याज भी ले सकता है। पुराणकार अवश्य यह निर्देश नहीं करते। वे तो व्यापार की चर्चा करते हैं किन्तु व्याज के लिए उनका मन्तव्य दिखाई नहीं देता। एक पुराणकार ने जहाँ स्पष्ट रूप से जीविका के साधन के रूप में व्यापार को लिखा है, वहाँ व्याज की चर्चा नहीं की[२]।

---

१. कौ.अ,पृ. ४२९

२. मा.पु.,पृ. १०४

## कृषि तथा इससे सामाजिक सहयोग

कृषि के सन्दर्भ में प्रारम्भ से ही यह कहा गया है कि वैश्य कृषि कर्म को प्रमुखता के साथ करेगा। एक अद्भुत बात यह कही गई है कि जिस प्रकार पशुओं में गाय का महत्त्व और मूल्य अधिक है, उसी प्रकार मनुष्यों में वैश्य का महत्त्व अधिक है[१]। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वैश्यों के द्वारा कृषि और वाणिज्य किए जाने के कारण वैश्य मनुष्यों के लिए मूल्यवान् थे। इसी तरह का एक उदाहरण और उद्धृत किया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि वैश्य अन्य लोगों का भोजन है और कर देने वाला है[२]। इससे भी वही अभिप्राय प्रकट होता है जिससे यह प्रतीत होता है कि वैश्य समाज के संचालन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

वैश्यों के लिए कृषि कार्य का सम्पादन करना महत्वपूर्ण कार्य था और इससे वे न केवल अपनी जीविका का अर्जन कर सकते थे अपितु कृषि पर ही अन्न की उत्पत्ति निर्भर थी और अन्न जीवन चलाने का एक महत्त्वपूर्ण कारक था। अन्न ही जीवन है और अन्न उत्पत्ति का सूत्र वैश्यों के हाथ में होने के कारण वे समाज के लिए महत्त्वपूर्ण थे।

---

१. वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मात्त आद्या अन्नधानादध्यसृज्यन्त तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यः।
तै.सं.७/१//१/५

२. ऐ.ब्रा. ३५/३

कृषि कार्य इस देश का महत्वपूर्ण व्यवसाय है और यह व्यवसाय वैश्य करते थे और इस पर केवल वैश्यों का ही अधिकार था। आचार्य कौटिल्य ने इसे विस्तार दिया है और वार्ता वृत्ति के साथ कृषि तथा पशुपालन को जोड़ दिया है। वे वार्ता विद्या के अन्दर कृषि और पशुपालन को गिनाते हैं और लिखते हैं कि धान्य, पशु, स्वर्ण आदि की प्राप्ति के कारण वार्ता विद्या श्रेष्ठ और उपकार है[१]।

पुराणकारों का भी यही मत है कि कृषि और पशुपालन एक साथ ही हो सकता है क्योंकि यह दोनों एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं। कृषि और पशुओं का शाश्वत सम्बन्ध है, इसलिए वैश्यों को सम्भवत: कृषि कर्म के साथ-साथ पशुपालन भी दिया गया है। मार्कण्डेय पुराण, नारदपुराण, विष्णुपुराण आदि वैश्यों के लिए जिन कर्मों का विधान करते हैं, उनमें वे अकेले कृषि कर्म का उल्लेख न करते हुए पशुपालन का कर्म भी उन्हीं के लिए निर्दिष्ट करते हैं[२]।

कूर्मपुराण और श्रीमद्भागवत् ने अवश्य ही पशुपालन वैश्यों के लिए पृथक् से नहीं कहा। श्रीमद्भागवत् में वार्ता और कूर्म पुराण में कृषि कर्म को ही वैश्य के लिए अभिहित किया गया है[३]। कृषि सभी के लिए उपकारक है, इसलिए वैश्य समाज का उपकारक वर्ण है।

---

१. कौ.अ.,पृ. १५

२. भा.पु.,पृ. १०४, ना.पु.(१), पृ. ४४४

३. भा.म.पु.,पृ. ३७६, कू.पु.,पृ. ५

## शूद्र

शूद्र वर्ण के संबंध में उपनिषद् यह कहती है कि जब ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में सक्षम नहीं हुआ तब उसने शूद्र की रचना की। पूषा शूद्र ही है। यह पृथिवी पूषा है क्योंकि यह सभी का पोषण करती है[१]। शूद्रों के कर्तव्यों के संबंध में यह कहा गया है कि इसका कार्य निरन्तर परिचर्या करना है। अर्थात् शूद्र स्वभाव से ही परिचर्या करने वाला होता है[२]। मनुस्मृतिकार ने तो यहाँ तक लिखा है कि शूद्र का एक मात्र कार्य अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना है। साथ ही अन्य वर्णों की सेवा करना उनका धर्म है[३]। महर्षि याज्ञवल्क्य ने यह लिखा है कि शूद्र के लिए द्विज शुश्रूषा ही एक मात्र उसका धर्म है। वह द्विज शुश्रूषा के द्वारा अथवा अन्य शिल्प कार्यों के सम्पादन के द्वारा अपनी जीविका चला सकता है[४]।

पुराणकारों ने भी इसी प्रकार से शूद्रों के विषय में अपने-अपने मन्तव्य दिए हैं। श्रीमद्भागवत्कार लिखते हैं कि शूद्र के लिए द्विज शुश्रूषा ही एक मात्र धर्म है और वह अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता

---

१. स नैव व्यवभत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच।
ई.द्वा.उ.,पृ.२८२

२. परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावकम्। भ.गी.१८/४४

३. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषमनसूयया।। म.स्मृ., पृ. १८

४. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाजीवन्वणिग्भवेत्।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन्।। या.स्मृ.,पृ. ५३

हुआ अपने कर्तव्य का पालन करे। वह देव सेवा भी निश्छलता के साथ करे और जो कुछ प्राप्त है, उसे सन्तोष पूर्वक ग्रहण करें[१]। यहाँ पर यह उल्लेख्य है कि स्मृतिकार जहाँ यह लिखते हैं कि ब्राह्मण की सेवा करना शूद्र का कर्तव्य है, वहीं पुराणकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना शूद्र के कर्म बताते हैं[२]। एक पुराणकार शूद्र के धर्मों का आख्यान करते हुए उन्हें दान करने और यज्ञ करने के अधिकार से भी मण्डित करते हैं। मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि दान, यज्ञ तथा तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र के धर्म हैं, विप्रसेवा, पशुपोषण तथा क्रय-विक्रय का कर्म करना उनकी जीविका है[३]।

कूर्म महापुराण में पाकयज्ञ को भी शूद्र के धर्मों में सम्मिलित किया गया है। जबकि विष्णु पुराण में नम्रता, शौच, सेवा, भक्ति, अस्तेय, सत्संग और ब्राह्मण की रक्षा को शूद्र के कर्तव्यों के रूप में कहा गया है[४]।

---

१. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्।
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायगा।
तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः।। भा.पु.,पृ.४४५

२. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शुश्रुषानिरतो भवेत्। ना.पु.,पृ. ४४५

३. दानं यज्ञोऽथ शुश्रूषा द्विजातीनां त्रिधा मया।
व्याख्यातः शूद्र धर्मोऽपि जीविका कारुकर्मजा।
तद्वद्विजातिशुश्रूषा पोषणं क्रयविक्रयैः।। भा.पु.,पृ.१४४

४. कू.पु.,पृ.५, वि.पु.(१),पृ.४०४

## शिल्प कार्यों में शूद्रों की भूमिका

यह प्राचीन समय से ही देखा जाता रहा है कि शिल्प, कृषि और व्यापार वैश्य तथा शूद्रों के अधिकार में रहे हैं। समाज में सम्पत्ति अर्जन का काम वैश्यों का था जिसके लिए वे कृषि और व्यापार का कार्य करते थे। कृषि में पशुपालन तथा श्रम का कार्य ऐसा था जिसे केवल वैश्यों के द्वारा सम्पादित नहीं किया जा सकता था, इसलिए उसमें शूद्रों की महती भूमिका होती थी। कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त वस्त्र, बर्तन, आभूषण, रथ, अस्त्र-शस्त्र, चमड़े का कार्य तथा अन्य विविध शिल्प कार्य भी वैश्योंके साथ शूद्र ही करते थे। समाज की प्रतिष्ठा के बढ़ाने में जो सामग्री होती थी और समाज का जीवन व्यवहार जिससे चलता था, वह सभी सामग्री शूद्र ही निर्मित करते थे। इसमें श्रम शूद्र का और अर्थ वैश्य का होता था। यही कारण है कि शूद्र को समाज का पोषक कहा गया है[१]।

एक सन्दर्भ इस प्रकार से भी दिया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि शूद्रों का एक वर्ग इस प्रकार का था, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों की सेवा करते हुए उनके ही कुटुम्ब का सदस्य बनकर उनसे भोजन और वस्त्र आदि पाता था। गौतम धर्म सूत्र में ऐसा उल्लेख है जिसमें यह कहा गया है कि शूद्र को अपनी जीविका उच्च वर्ण से ही प्राप्त करनी चाहिए। उनके ही भोजन पर आश्रित होकर अपना जीवन बिताना चाहिए[२]।

---

१. वैश्यः शूद्रः तथा कुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकम्।
शूद्रस्यद्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि वाप्यथ। परा.स्मृ.२/१९, शं.स्मृ. १/५

२. गौ.ध.सू. १०/५७-५९

पुराणकारों ने भी ऐसा संकेत किया है कि शूद्र त्रिवर्ण की अथवा विप्रवर्ण की सेवा करता हुआ अपनी जीविका के लए विविध प्रकार के शिल्प कर्मों का आश्रय लेवे। कूर्म महा पुराण में जो कारु कर्म करने के लिए शूद्र को कहा गया है, उसका अभिप्राय ही शिल्पादि कर्मों से है। विष्णुपुराण का भी यही मन्तव्य है कि द्विजाति के आश्रय में रहता हुआ भी क्रय-विक्रय से तथा कारुकर्मों से अपनी जीविका का संचालन करें[१]।

नारद पुराण में शूद्र के लिए विस्तार से कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि शूद्र को चाहिए कि वह शिल्प द्वारा क्रय तथा विक्रय की गई वस्तुओं से जो धन प्राप्त होवे उससे अपना जीवन चलावे। वहाँ पर यह कहा गया है कि शास्त्र शूद्र को पाक यज्ञ करने की आज्ञा नहीं प्रदान करता है। वह अपना कर्तव्य मानकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करे[२]।

इस रूप में यह देखा जा सकता है कि शूद्र को चतुर्थ वर्ण होने के पश्चात् भी जीविका के सन्दर्भ में इतने अधिक अधिकार प्राप्त थे कि वह अपने जीवन को ठीक से चलाता हुआ समाज के लिए उपकारी बन सकता था।

---

१. द्विजातिसंश्रितं कर्म तादर्थ्यं तेन पोषणम्।
क्रय-विक्रयजैर्वापि धनैः कारुद्भवेन वा।। वि.पु. (१), पृ. ८०

२. कुर्याच्च दारग्रहणं धर्माश्चैव समाचरेत्।
क्रय-विक्रयजैर्वापि धनैः कारुक्रियोदभवैः।। ना.पु.,पृ. ४४५
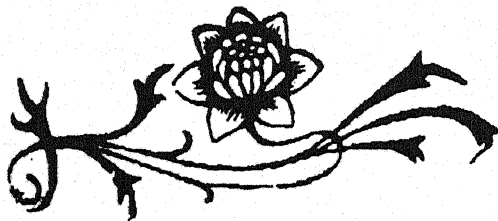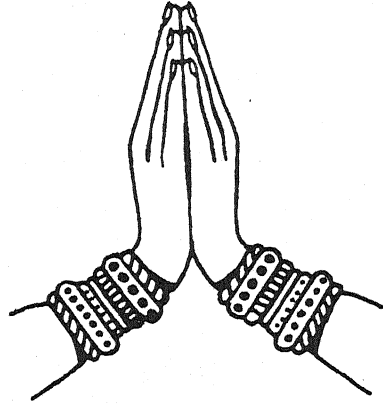
# चतुर्थ अध्याय

## (पौराणिक आश्रम व्यवस्था)
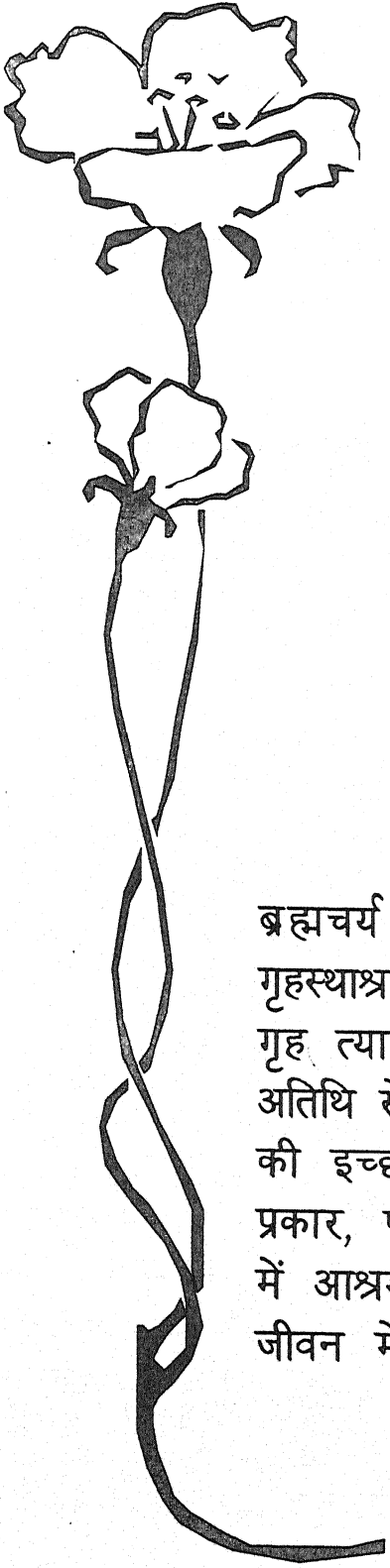
# चतुर्थ अध्याय

## ( पौराणिक आश्रम व्यवस्था)

आश्रम शब्द का अभिप्राय एवं संख्या, ब्रह्मचर्य आश्रम, गुरुसेवा, त्याग और तपस्या, गृहस्थाश्रम, अतिथि सेवा, दान वृत्ति, वानप्रस्थाश्रम, गृह त्याग, तपस्या तथा स्वाध्याय, स्वाध्याय तथा अतिथि सेवा, संन्यासाश्रम, विरक्ति का भाव, मुक्ति की इच्छा, संन्यासी का जीवन, संन्यासियों के प्रकार, पौराणिक समाज संरचना, समाज संरचना में आश्रमों की भूमिका, लौकिक तथा पारलौकिक जीवन में आश्रमों का महत्त्व।
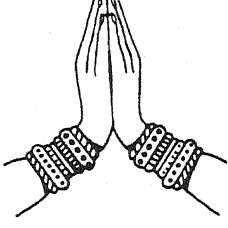
# चतुर्थ अध्याय
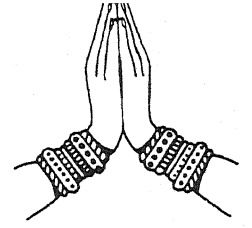
## ( पौराणिक आश्रम व्यवस्था )

### आश्रम शब्द का अभिप्राय एवं संख्या

आश्रम शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः'-अर्थात् एक ऐसा जीवन जिसमें व्यक्ति पहुँचकर पर्याप्त श्रम करता है[१]। इसी प्रकार से एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि श्रेय की इच्छा करने वाला जहाँ पहुँचकर श्रम से मुक्त हो जाता है, उसे आश्रम कहा जाता है। अथवा आश्रम जीवन की वह स्थिति है जहाँ पर अपने कर्त्तव्य पालन के लिए पूर्ण श्रम किया जाए- वह आश्रम है[२]।

आश्रमों की संख्या के सम्बन्ध में जो प्राचीन सन्दर्भ प्राप्त हैं, उनके विषय में यह कहा गया है कि इनकी संख्या चार थी[३]।

अथर्ववेद में एक स्थान पर ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग किया गया है और वहाँ पर यह कहा गया है कि आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी[४]।

ऋग्वेद में एक स्थान पर मुनि शब्द का वर्णन आया है

---

१. ध. इ. (१), पृ. २६७

२. आश्राम्यन्ते श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमाः।
आश्राभ्यन्त्यत्र अनेन वा।
यद् वा आसमन्तात् श्रमो वा। स्वधर्मसाधनक्लेशात्।। वै. सा.सं., पृ. १७५

३. ऋग् १०/१०९/५

४. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं वृणुते गर्भमन्तः। अथर्व. ११/५/३

और उसमें यह सूचित है कि वायु भक्षण करने वाले पिशंग वर्ण मुनि होते हैं[१]। इसी प्रकार से एक स्थान पर मुनियों को देवों का मित्र कहा गया है जिससे यह प्रतीति होती है कि तब मुनियों की स्थिति थी[२]। एक स्थान पर यह कहा गया है कि मल से क्या लाभ, मृगचर्म, दाढ़ी तथा तप से क्या मिलेगा?

हे ब्रह्म! पुत्र की इच्छा करो, वह विश्व है जिसकी बड़ी प्रशंसा होगी[३]। इस सन्दर्भ में मल से अभिप्राय गृहस्थाश्रम से और श्मश्रु से अभिप्राय संन्यासाश्रम से लिया जा सकता है[४]। और तब आश्रमों की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

उपनिषद् परम्परा में स्पष्ट रूप में आश्रमों की अवस्थिति का संकेत किया गया है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि धर्म के तीन स्कन्ध हैं जिनमें प्रथम यज्ञ अध्ययन एवं दान में है, दूसरा तप में है और तीसरा ब्रह्मचर्य में है। अर्थात् क्रम से प्रथम गृहस्थाश्रम, दूसरा वानप्रस्थ और तीसरा ब्रह्मचर्याश्रम है[५]।

---

१. मुनयो वातरशना: पिशंगा वसते मला:। ऋक् १०/१३६/२

२. वही, १०/१३६/४

३. किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तप:।
पुत्रं ब्रह्माणइच्छध्वं स वै लोको वदावद:।। ऐ. ब्रा. ३३/११

४. ध. इ., पृ. २६५

५. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवं द्वितीया ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। छान्दो. २/२३/१

जहाँ तक आश्रमों की संख्या का प्रश्न है तो उपनिषदों के समय में चार आश्रमों की स्थिति का संकेत प्राप्त होता है। जावालोपनिषद् में चारों आश्रमों की स्थिति का संकेत स्पष्ट रूप से किया गया है। जैसे कि वहाँ कहा गया है कि ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृही होवे, गृही होकर वनवासी बने और वनवासी के पश्चात् प्रव्रजित होवे[१]।

विविध स्मृतियों और उनकी टीकाओं में जो सन्दर्भ हैं, उनके अनुसार चार आश्रमों की प्रतिष्ठा का संकेत है और यह कहा जा सकता हैं कि स्मृति काल तक चारों आश्रम प्रतिष्ठित हो चुके थे। याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए यह कहा गया है कि प्रत्येक वेद के लिए बारह अथवा पाँच वर्षों का कार्यकाल होता है। किसी के मत से यह विधान है कि विद्या ग्रहण के अन्त तक ब्रह्मचर्य का कार्यकाल होता है[२]। महर्षि मनु ने छत्तीस वर्ष, बारह वर्ष अथवा अठारह वर्षों की अवधि ब्रह्मचर्याश्रम के लिए निर्धारित की है[३]।

इसी प्रकार से ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् के काल को और गृही होने को गृहस्थधर्म में प्रविष्ट हुआ कहा गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य और आचार्य मनु समान रूप से ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति पर गृहस्थ धर्म की स्थिति मानते हैं[४]। यही स्थिति वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम की भी है। मिताक्षराकार, मनु और महर्षि याज्ञवल्क्य समान रूप से वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम का संकेत करते हैं[४]।

---

१. ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेत् बनी भूत्वा प्रव्रजेत्। जावा., ४

२. प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्चवा।
ग्रहणान्तिकमित्येके केशान्तश्चैव षोडशे।। या. स्मृ., पृ. १४

३. मनु. स्मृ. ३/१

४. या. स्मृ. १/५१

५. मनु.स्मृ. ३/६७

६. या.स्मृ. एवं मिताक्षरा ३/४५, ३/५६, मनु. स्मृ. ६/३, ६/३३

पुराण परम्परा में भी चारों आश्रमों के नामों की गणना है और उन आश्रमों के कर्तव्यों का विधिपूर्वक वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से विष्णु पुराण में वर्ण धर्मों का वर्णन करने के पश्चात् और्व ऋषि ने चारों आश्रमों का क्रमशः वर्णन किया है और उनके कर्तव्यों का कथन किया है[१]।

एक अन्य पुराण में यह कहा गया है कि महाराज मनु ने वर्ण धर्मों का कथन करने के पश्चात् आश्रमों का वर्णन किया और आश्रम धर्मों की स्थापना की। ये आश्रम हैं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें से अग्नियों की उपासना, अतिथि सेवा, यज्ञ, दान, गृहस्थ के धर्म हैं। हवन, कन्द-मूल और फल का सेवन, स्वाध्याय और तप यह वानप्रस्थों का धर्म है। भिक्षा से प्राप्त पदार्थों का सेवन, मौनव्रत, तप, ध्यान और वैराग्य संन्यासियों के धर्म हैं। भिक्षा मांगना, गुरु की सेवा करना, स्वाध्याय तथा अग्नि कार्यादि ब्रह्मचारियों के कर्म हैं[२]।

---

१. वि. पु. (१), पृ. ४०७-४११

२. ततः स्थितेषु वर्णेषु स्थापयामास चाश्रमान्।
गृहस्थं च वनस्थं च भिक्षुकं ब्रह्मचारिणम्।।
अग्नयोऽतिथिशुश्रुषा यज्ञो दानं सुरार्चनम्।
गृहस्थस्य समासेन धर्मोऽयं मुनिपुंगवाः।।
होमामूलफलाशित्वं स्वाध्यायस्तप एव च।
संविभागो यथान्यायं धर्मोऽयं वनवासिनाम्।।
भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः।
सभ्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः।।
भिक्षाचर्या च शुश्रुषा गुरोः स्वाध्याय एव च।
सन्ध्याकर्माग्निकार्यं च' धर्मोऽयं ब्रह्मचारिणाम्।। कू. पु., पृ. १४

चारों आश्रमों के सन्दर्भ में जो कुछ अन्य पुराणों में लिखा गया है उसमें से नारद पुराणकार का यह अभिमत है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ही चार आश्रमों का विधान किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई आश्रम नहीं हैं। ये आश्रम हैं-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थ। इन चारों आश्रमों के द्वारा ही उत्तमधर्म की सिद्धि होती है[१]।

श्रीमद्‌भागवत् पुराण में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का विस्तार से वर्णन है। इन आश्रमों के लिए जिन कर्मों का विधान किया गया है उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। ब्रह्मचारी के लिए संयम से रहना और गुरु सेवा को महत्त्वपूर्ण ढंग से सम्पादित करने का विधान है जबकि गृहस्थ के लिए विविध यज्ञों से देवादि का अर्चन करते हुए अपने द्वार पर आए हुए अतिथि का सत्कार करने का विधान है। वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाला भी संयमित जीवन जिए-यह वर्णन है और तपस्वी अर्थात् संन्यासी के लिए संसार धर्मों के परित्याग का संकेत है। वहाँ पर इन चारों आश्रमों के महत्त्व पर यह कहा गया है कि जो अपने-अपने आश्रम-धर्मों का पालन करता हुआ अपना समय व्यतीत करता है वह परब्रह्म को प्राप्त करता है[२]।

---

१. यद्याश्रयेद् द्विजो मूढस्तदा चाण्डालतां ब्रजेत्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणां मुनिसत्तम।।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ता पञ्चमो नोपपद्यते।
ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुकश्च मुनिश्रेष्ठ।
चतुर्भिराश्रमैरेभिः साध्यते धर्म उत्तमः।। ना. पु. (१), पृ. ४४६, मा. पु.,पृ. १०४-१०५

२. एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिगृही।
चरन् विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति।। मा. म. पु., पृ. ३७७

## ब्रह्मचर्याश्रम

वैदिक काल में स्पष्टरूप से ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का कथन प्राप्त नहीं होता है। केवल इस आश्रम के सम्बन्ध में और इसकी स्थिति के संबंध में ही सूचना प्राप्त है। उपनिषदों में इनके कर्तव्यों के विषय में जो कुछ ज्ञात है तदनुरूप यह कहा जा सकता है कि उस समय गुरु के पास नैष्ठिक रूप से अथवा अन्तेवासी के रूप में रहकर अपनी ज्ञान पिपासा शान्त की जाती थी। वेद वेदाङ्गों के अध्ययन के पश्चात् समावर्तन संस्कार होता था। आचार्य ब्रह्मचर्यावास हेतु शिष्य को आदेश प्रदान करते थे[१]। अन्तेवासी के ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त उसे जो उपदेश दिया जाता था, उसके अनुरूप उससे कहा जाता था कि तुम धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो तथा सन्तान परम्परा का उच्छेद मत करो।

ब्रह्मचारी के स्वरूप के विषय में याज्ञवल्क्य स्मृतिकार कहते हैं कि कृतज्ञ, द्रोहहीन, मेधावी, पवित्र, परदोषान्वेषण से विरत, सदाचारी, समर्थ, विद्याप्रद तथा धनदाता ही अध्यापन के योग्य है[२]।

इसीप्रकार से ब्रह्मचारी के लिए यह कथन है कि वह यदि स्वस्थ है तो किसी एक के घर नियम बद्ध होकर भोजन न करे। पलाश का दण्ड, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत और मूंज का मेखला धारण करे[३]।

---

१. प्र.उ. १/१, छान्दो. ८/७/३

२. कृतज्ञाप्रोहिमेघा विशुचिकल्यानसूयका:।
अध्याप्या धर्मत: साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदा।। या. स्मृ., पृ. ११

३. ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमधादनापदि।
दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्।। वही. पृ. १२-१३

मनुस्मृतिकार ब्रह्मचारी के संबंध में लिखते हैं कि त्रिवर्ण के ब्रह्मचारियों के लिए दण्ड धारण करने का विधान है। उसे चाहिए कि वह अपनी माता, बहिन, मौसी आदि पारिवारिक स्त्रियों से भिक्षा की याचना करे जिससे उसका अपमान न होवे। ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह अपना बचा हुआ जूठा अन्न किसी दूसरे को न देवे। इसीप्रकार से उसे सायंकाल भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए और न ही जूठे मुख कहीं जाना चाहिए। इसी तरह से शिष्य विधिवत् आचमन करके, वस्त्रधारण करके, जितेन्द्रिय होकर उत्तर की ओर मुख करके बैठे[१]।

पुराणों में भी ब्रह्मचारी के ऐसे ही कर्तव्यों का कथन किया गया है। वहाँ पर एक पुराण में यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को नियमित स्वाध्याय करना चाहिए, अग्नि की शुश्रूषा अर्थात् निरन्तर अग्नि की सेवा करनी चाहिए और स्नानादि के पश्चात् भिक्षार्थ भ्रमण कर भिक्षा लाकर गुरु की आज्ञा से उसे ग्रहण करना चाहिए। ब्रह्मचारी के लिए यह आवश्यक है कि वह अभिमानरहित होकर अध्ययन करे तथा जब उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना हो तो गुरु की आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे[२]।

एक अन्य सन्दर्भ में इस प्रकार का संकेत है कि बालक को उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन परायण होकर ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरु गृह में निवास करना चाहिए। वहाँ रहकर वह परम तथा

---

१. अध्येषमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्.मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः।। मनु. स्मृ., पृ. ३९

२. स्वाध्यायोऽथाग्निशुश्रूषा स्नानं भिक्षाटनं तथा।
गुरोर्निविध तच्चाधमनुज्ञातेन सर्वदा।।
शुश्रूषानिरभिमानी ब्रह्मचर्याश्रम वसेत्।
उपावृस्ततस्तस्माद् गृहस्थाश्रमकाम्यया।। मा. म. पु., पृ. १०४

पूर्ण पवित्रता का आचरण करे एवं विविध व्रतों का पालन करता हुआ गुरु गृह में रहकर विद्याध्ययन करे[१]।

एक पुराण में ब्रह्मचारी के दो भेदों का कथन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि एक उपकुर्वाण और दूसरा नैष्ठिक ब्रह्मतत्पर। जो ब्रह्मचारी विधिवत् वेदों का अध्ययन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, उसे उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी जानना चाहिए और जो यावत् जीवन गुरु के पास रहकर ब्रह्मविद्या का अभ्यास करता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है[२]।

श्रीमद्भागवत पुराण में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का कथन विस्तार पूर्वक किया गया है। वहाँ पर ब्रह्मचारी के लिए यह कहा गया है कि वह मेखला, अजिन, दण्ड, अक्षसूत्र, कमण्डल धारण करे। वह जटिली होवे अर्थात् जटाएँ धारण करे तथा क्षौर कर्म न कराये। नाखून का काटना और बालों का बनवाना ब्रह्मचारी के लिए वर्जित है। ब्रह्मचारी के लिए यह विधान है कि वह अग्निकार्य करे तथा समय-समय पर सन्ध्यावन्दन करे। सायं और प्रातः सन्ध्यावन्दन के पश्चात् भिक्षा के लिए भ्रमण करे।

---

१. बालः कृतोपनयना वेदाहरणतत्परः।
गुरुगेहे वसेद्भूत ब्रह्मचारी समाहितः।।
शौचाचारव्रतं तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरोः।
व्रतानि चरता ग्राहयो वेदश्च कृतबुद्धिता।। वि. पु. (१), पृ. ४०६

२. सर्वेषामाश्रमाणां तु द्वैविध्यं श्रुतिदर्शितम्।
ब्रह्मचार्युपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्मतत्परः।।
योऽधीत्यविधिवद् वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेत्।
उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तिकः।। कू. पु., पृ. १६

इसके साथ ही ब्रह्मचर्याश्रम के लिए यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह सायंकाल और प्रात:काल सूर्य तथा अग्नि की उपासना करे और निरन्तर ईश्वर नाम जप करता हुआ ब्रह्म में समाहित रहे। ब्रह्मचारी को कभी भी अपने केशों का प्रसाधन नहीं करना चाहिए और न ही शरीर में तैलादि का मर्दन तथा आँखों में अँजनादि का प्रयोग करना चाहिए। जिन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है वे कभी भी न तो शरीर में तेल का मर्दन करें और न ही कभी केशों का कर्तन करें। उन्हें चाहिए कि वे कभी भी माला धारण न करें और न कभी किसी प्रकार के अलंकारों से स्वयम् को सजावें[१]।

---

१. मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून्।
विभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम्।।
केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यंञ्जनादिकम्।
गुरुस्त्रीभियुवतिभि: कारयेन्नात्मनो युवा।।
अञ्जनाभ्यञ्न्मर्दस्त्र्वलेखामिषं मधु।
स्त्रग्गन्धलेपालंकारास्त्यजेयुर्ये घृतव्रता:।।
मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून्।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठ: कुशान् दधत्।।
सायं प्रातरूपानीय भैक्ष्यं कस्मै न्यवेदयत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयत:।।
अग्नौगुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरूपासीत ब्रह्मवर्चसि व्यकल्मष:।।
अग्नि-अर्काचार्यविप्रगुरूवृद्धसुराञ्छुचि:।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग् जपन्।। भा.पु.,पृ.३७७, पृ.७००

## गुरु सेवा

शिक्षा प्राप्ति के लिए आदिकाल से ही गुरु की परिकल्पना रही है। विना गुरु के सहयोग के और उनके निर्देश के शिक्षा प्राप्त करना कभी भी सम्भव नहीं हुआ है। इसलिए प्राचीन समय में बालक के लिए प्रथम आचार्य के रूप में तो पिता का स्थान है। बालक के जन्म से ही उसका मार्गदर्शक होने के नाते पिता उसका आचार्य है। उपनिषदें तो ऐसे संकेत स्पष्ट रूप से करती हैं। छान्दोग्योपनिषद् में यह स्पष्ट संकेत है कि श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम अपने पिता से शिक्षा प्राप्त की थी यद्यपि वह बाद में क्षत्रिय बन्धु प्रवाहण के पास गए थे और उन्होंने वहाँ से अध्यात्म लाभ प्राप्त किया था[१]। एक और संकेत इसी तरह का है जिसमें यह कहा गया है कि पिता के आचार्यत्व में ही देवों, असुरों और मानवों की शिक्षा सम्पन्न हुई[२]।

पिता के आचार्यत्व का एक हेतु यह भी दिखाई देता है कि उस समय शिक्षा में और अन्य व्यवस्थाओं में भी कुल का विशेष महत्त्व था। इसलिए कुल का वरिष्ठ पिता ही प्रथम शिक्षा पुत्र को देता था। उपनिषद् तो यहाँ तक संकेत करती हैं कि पिता ही प्रथम रूप में पुत्र को गायत्री का मन्त्र देता था और सम्भवतः पिता को ही इसका अधिकार था। इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि तब के समाज में वेद साहित्य की शिक्षा देने का अधिकार पिता को ही होता था[३]।

---

१. छा. उ. ५/३/१

२. त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूधुर्देवा मनुष्या असुर उषित्वा।
वृह. उ. ५/२/१

३. उ. स. सं., पृ. २५५

तब आचार्य का आदर्श यह था कि वे स्पष्ट वक्ता होते थे और जिस विषय का ज्ञान उनको होता था, उसे ही वे स्वीकार करते थे तथा शेष का निषेध कर देते थे[१]। आचार्य जो भी परिग्रहण करते थे, वह शिष्यों के लिए ही होता था। आचार्य कुलों में निवास करने वाले शिष्यों के लिए ही वे गोधन का संरक्षण करते थे और कभी-कभी तो वे सहस्त्राधिक गौओं की संख्या तक गौओं का संरक्षण करते थे।

आचार्य की इच्छा होती थी कि उनकी प्रार्थना और तपस्या से शिष्य का परमहित सम्पादित होवे, इसलिए वे नित्य की प्रार्थना में यह इच्छा करते थे कि शिष्य की वाणी और मन दोनों ही अनुकूल रहें। अहोरात्रि अध्ययन चलता रहे। ऋत् का आचरण होता रहे[३]।

आचार्यों का नैतिक जीवन उनके नैतिक आचरण पर ही टिका हुआ था जिसमें वे शिष्यों के नैतिक आचरण की कामना हवन आदि करते हुए करते थे[४]।

तब आचार्यों की यह इच्छा होती थी कि ब्रह्मचारी निष्कपट होवें, यथार्थ ज्ञान का वरण करें, इन्द्रिय दमन करें और मनो निग्रही हों। यही कारण है कि जब ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था तो वे कहते थे कि जो हमारे शुभ कर्म हैं, वे ही सेवनीय हैं, अन्य हमारे अकर्म अनुकरणीय नहीं हैं। वे अपने से श्रेष्ठ आचार्यों की अवमानना कभी नहीं करते थे और शिष्यों से कहते थे कि उनसे जो श्रेष्ठ ब्राह्मण और आचार्य हैं उनका सम्मान सदा होवे[५]।

---

१. बृह. उप. ३/७/१
२. छा. उ. ४/४/५
३. ऐ. उ. शान्ति पाठ
४. तै. उ. १/४/२
५. वही १/११/२-३

उपनिषद् काल में शिष्य का बारह वर्ष की अवस्था में आचार्य के पास जाना होता था और लगभग बारह वर्ष में यह शिक्षा प्राप्त कर घर वापस आता था। श्वेतकेतु के विषय में यही जानकारी उपलब्ध होती है[१]। उपकोसल ने भी बारह वर्ष तक आचार्य के पास रहकर उनकी सेवा की थी[२]।

उपनिषदों में भी दो प्रकार के ब्रह्मचारियों का उल्लेख मिलता है। एक ब्रह्मचारी वह था जो जीवन की अन्तिम अवस्था तक आचार्य के पास रहता था और वहीं पर अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देता था। ऐसे ब्रह्मचारी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था। दूसरे प्रकार के ब्रह्मचारी को अन्तेवासी ब्रह्मचारी कहते थे[३]।

उपनिषद्काल में शिष्य आचार्य के पास स्वयम् जाते थे। सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम के पास ब्रह्मचर्यवास के लिए गया था[४]। आचार्य भी शिष्य का भलीभाँति परीक्षण कर लेता था और जब तक उसे श्रद्धा युक्त नहीं पा लेता था तब तक उसे ज्ञान देने के लिए तत्पर नहीं होता था। शिष्य कामवासना की ओर अभिमुख न हो पावें, इसलिए उन्हें आचार्य-आश्रमों में विविध कार्यों में संयोजित रखा जाता था। नचिकेता को यम ने विद्याभिलाषी तभी माना जब वह प्रलोभित किए जाने पर भी अविचल रहा[५]। आचार्य कुल में जाकर शिष्य अपनी पूरी सामर्थ्य से आश्रम का कार्य करते थे जिसमें शिष्यों के द्वारा गो सेवा किया जाना भी सम्मिलित था। शिष्य स्वयम् के लिए तथा आचार्य के लिए भी भिक्षाचरण करने जाता था।

---

१. छा. उ. ६/१/१
२. उ. सं. सं., पृ. २५८
३. छा. उ. ६/१/१
४. वही ४/४/३
५. क. उ. १/२/४

स्मृति परम्परा में शरीर देने वाले पिता की अपेक्षा वेद पढ़ाने वाले आचार्य का अधिक महत्त्व है और उसे पिता ही कहा गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि माता और पिता परस्पर कामातुर होकर इसे अर्थात् बालक को जन्म देते हैं इसलिए वह केवल जन्ममात्र जानता है। आचार्य वेद की विधि से और गायत्री के उपदेश से बालक का वर्ण करता है और वही वर्ण संसार में अजर तथा अमर होता है, इसलिए वही सत्य है[१]।

महर्षि मनु ने शिष्य के लिए यह विधान किया है कि वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से और श्रद्धा से आचार्य की सेवा करे। वे यहाँ तक विधान करते हैं कि ब्रह्मचारी वाणी, मन, इन्द्रियों आदि को विधिपूर्वक रोककर हाथ जोड़कर गुरु की ओर मुख करके खड़ा रहे तथा उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करे। आचार्य के निद्रा त्यागने के पूर्व ही ब्रह्मचारी निद्रा का त्याग करके उनकी सेवा के लिए तैयार हो जावे। ब्रह्मचारी का आसन और शय्या हर समय गुरु के आसन और शय्या से नीचे की ओर होवे। वह कभी भी न तो गुरु के पास बैठे और न ही उनके बराबर शय्या लगावे[२]।

---

१. कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
सम्भूति तस्य तां विद्यायोनाभि अभिजायते।।
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्रयां सा साप्या साजरामरा।। म. स्मृ., पृ. ५५

२. शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोमुर्खम्।।
नीचं शय्यांसनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्।। वही, पृ.६४-६५

ब्रह्मचारी के लिए आचार्य के महत्त्व का यहाँ तक कथन किया गया है जिसके अनुसार शिष्य के लिए यह विधान था कि वह विना आचार्य की आज्ञा से भोजन भी नहीं प्राप्त सकता था। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचारी अग्निकार्य करके, गुरु की आज्ञा पाकर अन्न का सत्कार करे तथा उसकी निन्दा न करते हुए मौन होकर भोजन करे[१]।

गुरु की सेवा करने का निर्देश पुराणों में भी दिया गया है। कूर्म पुराण में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि भिक्षा मांगना, गुरु की सेवा करना, स्वाध्याय और संध्याकर्म में निरत रहना ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य हैं[२]।

एक अन्य स्थान पर यह कथन है कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यपालन पूर्वक गुरु गृह में निवास करे। वह प्रात:काल तथा सायंकाल की सन्ध्याओं में एकाग्रमन से सूर्य की उपासना करे और नियमबद्ध होकर गुरुदेव की उपासना भी करे। जब गुरू जी चलें तब वह उनका अनुसरण करता हुआ चले और जब वे खड़े होवें तो खड़ा हो जावे। इसी प्रकार से जब गुरू जी बैठें तब वह बैठे। यही ब्रह्मचारी के लिए मर्यादा है[३]।

---

१. कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया।
आपोशानक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन्।। या. स्मृ., पृ. १३

२. भिक्षाचार्यं च शुश्रूषा गुरो: स्वाध्याय एव च।
सन्ध्याकर्माग्निकार्यं च धर्मोऽयं ब्रह्मचारिणाम्।। कू. पु., पृ. १४

३. शौचाचारव्रतं तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरो:।
ब्रतानि चरता ग्राह्यो वेदश्च कृतबुद्धिता।।
शिष्यो गुरोर्नृपश्रेष्ठ प्रतिकूलं न सञ्चरेत्।। वि. पु. (१), पृ. ४०६

श्रीमद्भागवत में तो यहाँ तक कहा गया है कि शिष्य को गुरुगृह में इसप्रकार से निवास करना चाहिए जैसे कोई दास अपने स्वामी के घर में निवास करता है। वह सायं और प्रातः नियमपूर्वक गुरु की सेवा करे और अग्नि तथा सूर्य की उपासना करे। गुरु के समक्ष उपस्थित होकर अध्ययन करे तथा प्रारम्भ में और अन्त में गुरु को प्रणाम करे। सायंकाल तथा प्रातःकाल भिक्षा की याचना करे और फिर उस भिक्षा को गुरु को निवेदित करे। तत्पश्चात् गुरु की आज्ञा से वही ग्रहण करे[१]।

एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी भिक्षा की याचना करने के पश्चात् उसे गुरु को समर्पित करे और फिर उनकी ही आज्ञा से भोजन करे। गुरु के कार्य साधन में उद्योगशील होवे, उनके कार्य में तत्परता से लगकर उनसे अध्ययन करे। गुरु के पास उपस्थित होकर उनकी चरंण-वन्दना कर उनसे ही वेदों की शिक्षा ग्रहण करे और फिर उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा देवे[२]।

---

१. ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्।
आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सदृढ़ सौहृदः।।
सायं प्रातरूपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान्।
उभे सन्ध्ये च यतवान् जपन् ब्रह्म समाहितः।।
छन्दांस्यधीयीत गुरोराहतश्चेत् सुयन्त्रितः।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत्।। भा. म. पु., पृ. ३७७

२. स्वाध्यायोऽथाग्निशुश्रूषा स्नानं भिक्षारनं तथा।
गुरोः कर्मणि सोद्योगः सम्यक् प्रीत्युत्पादकः।।-मा. पु., पृ. १०४

## त्याग और तपस्या

वैदिक धारणा यह थी कि ज्ञान के द्वारा मानव के व्यक्तित्व का पूरा विकास होता है और ज्ञान के द्वारा ही वह ऊर्जावान् भी बनता है। वह ज्ञान सम्पन्न होने पर देवता बन जाता है[१]। जो विद्वान् होता है समाज उसे बहुत अधिक आदर देता है[२]। इसीप्रकार से ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिए कहा गया है कि स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है। वह स्वतंत्र बन जाता है। नित्य उसे धन प्राप्त होता है। उसका इन्द्रियों पर संयम होता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है। उसे यश मिलता है। वह लोक को अभ्युदय की ओर ले जाता है। विविध विषयों का अध्ययन करने वाले देवताओं को संतुष्ट करते हैं और देवता प्रसन्न होकर उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं[३]।

महर्षि मनु ने ज्ञान की प्रतिष्ठा के संबंध में यह लिखा है कि ब्राह्मण के लिए तप और विद्या दोनो ही निश्रेयसरूप हैं। इनमें से तप के द्वारा वह पाप को नष्ट करता है और विद्या के द्वारा अमर पद पाता है। यही लिखते हुए मनु ने कहा कि वेद-शास्त्र आदि के तत्त्वों को जानने वाला विद्वान् चाहे जिस किसी आश्रम में क्यों न निवास करता होवे वह इसी लोक में रहता हुआ मुक्ति प्राप्त कर लेता है[४]।

---

१. विद्वान्सो हि देवाः। श. ब्रा. ३/७/३/१०
२. वही, २/२/२/६
३. वही ११/५/७/१-५
४. वेद शास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।। मनु. स्मृ. १२/१०२

विद्या की उपासना करने वाले शिष्यों के लिए इसी निमित्त प्राचीन समय में परीक्षण की विधि भी अपनाई जाती थी। एक स्थान पर विद्यादेवी द्वारा की गई एक प्रार्थना का उल्लेख करना यहाँ इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है जिसमें यह कहा गया है कि विद्यादेवी आचार्यों से अनुरोध करती है कि मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी निधि हूँ। मुझे असूया करने वाले, कुटिल और असंयमी को मत दो। तभी मैं वीर्यवती रहूँगी। उसी को विद्या प्रदान करो जो पवित्र हो, प्रमाद नहीं करता हो, मेधावी हो और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हो[१]।

ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक था कि वह पवित्र जीवन वाला हो और सत्य आदि का आग्रही हो। सत्यकाम का दृष्टान्त इस दृष्टि से महत्त्व का है जिसमें उसने अपने पिता के गोत्र के ज्ञात न होने पर भी असत्य का आश्रय नहीं लिया अपितु सत्य का आश्रय लेकर आचार्य को यथास्थिति से अवगत करा दिया[२]।

इसी प्रकार का सन्दर्भ यम और नचिकेता के आख्यान से भी लिया जा सकता है जिसमें नचिकेता यम द्वारा दिए गए वरदान को तो स्वीकार कर लेता है किन्तु वह ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के अपने आग्रह को नहीं छोड़ता। अन्ततः यम को यह विश्वास हो जाता है कि नचिकेता को कोई भी प्रलोभन डिगा नहीं सकता[३]।

---

१. श. ब्रा. ११/४/१/९

२. छान्दो. ४/४

३. कठ. १/२०-२९

इस रूप में यह कहना संगत हो सकता है कि ब्रह्मचारी के लिए यह आवश्यक था कि वह त्यागी हो और तपस्वी होवे। मनुस्मृतिकार महर्षि ने इसीलिए ब्रह्मचारी के लिए तपस्या का विधान किया है और लिखा है कि वह अपनी इन्द्रियों को विषयों से रोककर नित्य प्रति गुरु के समीप रहकर तपस्या करता रहे। वह कभी भी सुगन्धित पुष्पों और द्रव्यों का प्रयोग स्वयम् न करे। शहद, मांस, रस, स्त्री आदि का सेवन कभी नहीं करे। उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह से बचना चाहिए। वह कभी जुआ न खेले, स्त्रियों का आलिंगन न करे और कभी भी दूसरे की निन्दा तथा अनिष्ट न करे।

इसी तरह से ब्रह्मचारी के लिए त्याग की बात को भी महत्त्वपूर्ण ढंग से कहा गया है। ब्रह्मचारी भिक्षा मांगकर भोजन करेगा और जो भिक्षा मांगकर वह लावेगा उसे भी गुरु को अर्पित करने के बाद और उनकी आज्ञा से ही उसका भोग करेगा। इसके अतिरिक्त उसे और कुछ अपने पास रखना ही नहीं है[१]।

---

१. सेवामांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोबृद्धयर्थमात्मनः।।
वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धंमाल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।।
धूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।।
आहरेद् यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत्।। म. स्मृ., पृ. ६२-६३

महर्षि याज्ञवल्क्य का भी यही कथन है। वे भी यही लिखते हैं कि ब्रह्मचारी आचार्य के पास रहकर पूर्ण तपस्वी बने और किसी प्रकार के लोभ से बचे। महर्षि का यह वचन है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के पास निवास करे, उनके न होने पर उनके पुत्र का आश्रय लेवे। वह अपने शरीर की साधना करता हुआ प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे[१]।

पुराणों में भी ब्रह्मचारी के लिए तप और त्याग का विधान है और वहाँ पर उनके लिए कठोर जीवन जीने का निर्देश है। विष्णु पुराण में तो आचार्य की सेवा का इतना अधिक कठोर व्रत कहा गया है कि जब गुरु खड़े हों तब ब्रह्मचारी खड़ा होवे, जब गुरु बैठें तब बैठे, जब गुरु चल रहे हों तब ब्रह्मचारी चले और उनके शयन करने के पश्चात् ही शयन करे[२]। एक अन्य स्थान पर यह संकेत है कि ब्रह्मचारी निरभिमानी होवे, सेवा परायण होकर वह आचार्य के पास रहे[३]।

अन्य स्थानों पर भी ब्रह्मचारी के त्याग और तप का कथन इसी रूप में किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि वह सुशील हो, जितेन्द्रिय हो, स्त्री-सम्पर्क से विमुख हो, केशादि प्रसाधन न करे और सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे[४]।

---

१. अनेन विधिना देहं सानन्दयन् विजितेनिद्रयः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहा जायते पुनः।। या. स्मृ., पृ. १८

२. स्थितेव्रजेद्याते नीचैरासीत् चासति।
शिष्यो गुरौर्नृपश्रेष्ठं प्रतिकूलं न सञ्चरेत्।। वि. पु.(१), पृ. ४०६

३. मा. पु., पृ. १०४

४. सुशीलोमितभुक् दक्षः श्रद्धानो जितेन्द्रियः।
वर्जयित् प्रमदागाथमगृहस्थो वृहद्व्रताः। मा. पु., पृ. ३७७

## गृहस्थाश्रम

प्राचीन समय में अध्ययन के पश्चात् समावर्तन संस्कार करके व्यक्ति नागरिक बन जाता था और तब समाज के कार्य में अपना सहयोग करता था। प्राचीन विधान के अनुसार यह भी निर्धारित था कि राजा स्नातक को जीवन की समस्त् सुविधाएँ देकर अपने राज्य में प्रतिष्ठित करता था और तब स्नातक गृहस्थ बनकर समाज की सेवा में अपने दायित्व का निर्वाह करता था। क्योंकि भारतीय दृष्टि अनुसार व्यक्ति पर जन्म से ही देव, ऋषि और पितृ ऋण होते थे, इसलिए उनसे उऋण होने के लिए वह गृहस्थ बनकर सन्तान की निरन्तरता के लिए विवाह करता था।

स्नातक आश्रम से आने के बाद गृहिणी की तलाश करता था क्योंकि गृहस्थ बनने के लिए पत्नी का होना नितान्त आवश्यक था। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि घर तब तक घर नहीं है जब तक उसमें गृहिणी न हो[१]। एक स्थान पर तो स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि विवाहोपरान्त ही व्यक्ति गृहस्थ बनता है।

वैदिक सन्दर्भ भी इसी प्रकार का मन्तव्य प्रकट करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि कन्या का पाणिग्रहण करते समय वर कहता है कि मैं तुम्हारा हाथ सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ जिससे मुझ पति के साथ तुम वृद्धावस्था तक रहो। भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि देवताओं ने तुम को मेरे लिए दिया है जिससे मैं गृहस्थ्य जीवन जी सकूँ[३]।

---

१. न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते। म.भा. शान्ति पर्व १४४.६

२. बौ. गृ. सू. १/१५/१०

३. गृभ्णामि ते सौभाग्यत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगोऽर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्यं देवाः।। ऋक् १०/८५/३६

वैदिक कालीन गृहस्थ का जीवन सदाचार सम्पन्न होता था। वह सतत् उद्योग करके अपने जीवन के लिए प्रचुर सामग्री प्राप्त कर लेता था। वेद के एक स्थल में गृहस्थ के लिए उद्बोधन था कि जुआ मत खेलो, कृषि कार्य करो, जो धन तुम्हारे पास है उसका ही भोग करो। अपने पशुओं और स्त्री की चिन्ता करो[१]।

वैदिक गृहस्थ धर्मपूर्ण आचरण वाला भी था। वह प्रातः और सायम् अग्नि में हवन करता था। अग्नि की स्तुति के द्वारा सभी की कल्याण कामना करता था। दिन के किसी अन्य भाग में सोमयज्ञ सम्पन्न होता था[२]। उसकी कामना थी कि वह किसी के सामने हाथ न फैलाए। उसके दिन सुदिन के रूप से व्यतीत हों। वह सम्पत्ति शाली बने और निरन्तर उसकी सम्पत्तियों में अभिबृद्धि होती रहे[३]।

जो सम्पत्तिशाली और सामाजिक गृहस्थ था, उसका समाज में सम्मान था और ऋषिगण ऐसी कामना करते थे कि उन्हें वीर, धनी तथा अधिक मात्रा में दक्षिणा देने वाला गृहस्थ मिले[४]।

एक गृहपति अपने लिए और सभी के लिए यह कामना करता है कि मेरे पास अच्छी गायें हों। मेरे पुत्र अच्छे हों। मैं दीर्घायु होकर वृद्धावस्था में ऐसे ही प्रवेश करूँ जैसे कोई अपने घर में प्रवेश करता है[५]।

---

१. ऋक्१०/३४/१३
२. वही १/४३/२-६
३. वही २/२१/६, २/२७/१७
४. वही ६/५३/२
५. वही १/११६/२५

उपनिषद् कालीन परम्परा में भी गृहस्थ का स्वरूप वही था, जो वैदिक कालीन परम्परा में दिखाई देता है। जब ब्रह्मचारी अपनी शिक्षा पूरी कर लेता था तब उसका समावर्तन संस्कार किया जाता था। उसके बाद वह आचार्य की अनुमति से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। सांसारिक जीवन का प्रारम्भ और लोक जीवन जीने का अवसर इसी आश्रम में मिलता था। किन्तु ऐसा नहीं था कि गृहस्थ जीवन स्वच्छन्दता अथवा उच्छृङ्खलता के लिए था। इसमें भी कुछ नियम थे जिनका पालन करना होता था। जैसे कि यह कहा गया था कि गृहस्थ स्वाध्याय में प्रमाद न करे। वह निरन्तर अपने आश्रम के लिए निर्धारित ग्रन्थों का अध्ययन करता रहे[१]।

गृहस्थ का धर्म था कि वह अपने सामर्थ्य के अनुसार अर्थार्जन करे तथा उसका उपभोग करता हुआ भी समाज के दायित्व से पराङ्. मुख न हो जावे। वह श्रद्धापूर्वक दान देता रहे तथा सामाजिक हितों में संलग्न रहे[२]। गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने का एक यह भी उद्देश्य था कि व्यक्ति उस परम्परा को अक्षुण्ण रखे जिसे सन्तान परम्परा कहते हैं और जिससे सृष्टि का कर्म निरन्तर चलता रहता है[३]।

१. तै. उप. १/१/१/१
२. वही १/११/३
३. आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। तै. उ. १/११/१

स्मृतियों में गृहस्थाश्रम के लिए कुछ कर्त्तव्यों का आख्यान किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि गृहस्थ के घर में हिंसा के पाँच स्थान होते हैं। ये हैं चूल्हा, चक्की, बुहारी, ऊखल और मूसल। इनके कार्य में किसी न किसी रूप में जीव हिंसा होती ही है। इस हिंसा से जो दोष लगता है, उससे मुक्त होने का एक ही उपाय है कि गृहस्थ विधि विधान से पंच यज्ञ करता रहे[१]। पंच यज्ञों के सम्पादन के साथ-साथ गृहस्थ के लिए यह भी विधान था कि वह अध्ययन-अध्यापन में अपनी वृत्ति रखे, ब्रह्म यज्ञ करे, तर्पण करे, देव यज्ञ, भूतयज्ञ के साथ नृयज्ञ अर्थात् अतिथि सत्कार भी करे[२]। इसलिए जो गृहस्थ घर में रहकर इन श्रेष्ठ कर्मों को करता है, वह सामन्य रूप से पाप का भागीदार नहीं बनता है।

गृहस्थ का यह कर्तव्य भी है कि वह अपने घर में रहने वाले और अपने परिवार जनों के प्रति सदय रहकर सेवा तो करे ही, उसके लिए यह भी करणीय है कि समाज में जो भी हीन है, उसके प्रति भी गृहस्थ के मन में दया का भाव हो। यदि कोई गृहस्थ ऐसा नहीं करता तो वह मृत के समान है[३]।

---

१. तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञाः प्राप्येदं गृहमेधिनाम् ।। म. स्मृ., पृ. ९१

२. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञं पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो देवौ बलिभूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। वही, पृ. ९१

३. देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छवसन्न स जीवति।। वही, पृ. ९२

एक अन्य सन्दर्भ में भी गृहस्थ के लिए लगभग इसी प्रकार के कर्तव्यों का कथन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि गृहस्थ प्रतिदिन बलिवैश्व आदि करता हुआ अग्नि में हवन करे। यदि गृहस्थ ब्राह्मण है तो वह प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर सन्ध्यावन्दनादि भी नियमपूर्वक करे। इसके बाद सूर्य की उपासना करता हुआ वेदादि के अध्ययन में निरत होवे। गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने लिए ही केवल भोजन का पाचन न करे। वह पितरों और मनुष्यों के लिए भोजन की व्यवस्था करता हुआ, सतत् स्वाध्याय करे तथा अन्न के अभाव में इन्हें जलदान दे[१]।

गृहस्थ को प्रतिदिन उठकर अपने हित का चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् उसके लिए क्या करने योग्य है और क्या नहीं करने योग्य है, इसका विचार अवश्य ही करना चाहिए। इसी तरह उसे धर्म, अर्थ, काम का भी विचार करना चाहिए। अर्थात् इन श्रेयों के मार्ग पर चलना चाहिए[२]।

---

१. शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिर्द्विजः।
प्रातः सन्ध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्वकम्।।
अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम्।
स्वाध्यायं सततं कुर्यान् न पचेदन्नमात्मने।। या. स्मृ. ४४,४७

२. ब्राह्मेमुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्।
धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत्।। वही, पृ. ५१

पुराणों में गृहस्थ धर्म का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि गृहस्थ को सदा ही स्वाध्याय करते रहना चाहिए और वर्ण धर्म के अनुसार कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि जहाँ तक हो सके, वह दूसरे के अन्न को ग्रहण करने की इच्छा न करे और कभी भी किसी की निन्दा करने में भी प्रवृत्त न होवे। गृहस्थ के आचरण और व्यवहार में यह भी हो कि वह कभी भी दूसरे के द्वारा किए दुर्गणों का कथन न करे और न ही कभी अपने द्वारा किए गए सत्कर्मों का वर्णन करे। इसी तरह से गृहस्थ अपना नाम, कुल और गोत्रादि का वर्णन भी कभी न करे[१]।

गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह पवित्रता का विचार सदा करता रहे। पवित्रता दो प्रकार की होती है। एक पवित्रता वाह्य पवित्रता और एक पवित्रता अन्त:करण की पवित्रता। गृहस्थ को ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे वह उभय विधि पवित्रता की रक्षा कर सके। वाह्य पवित्रता को मृत्तिका आदि के प्रयोग से पाया जा सकता है किन्तु आन्तरिक पवित्रता को सद्भावों के द्वारा ही पाना सम्भव है। इसलिए गृहस्थ सद्भावी होकर मानसिक रूप से भी पवित्र बना रहे[२]।

---

१. नित्यं स्वाध्यायशील: स्याद् यथाचारं समाचरेत्।
परान्नं नैव भुञ्जीत परवादं न वर्जयेत्।।
न वदेत् परपापानि स्वपुण्यं न प्रकाशयेत्।
स्वकं नाम स्वनक्षत्रं मानं चैवातिगोपयेत।। ना.पु.(१), पृ. ४६३-४६४

२. शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जाभ्यां वहि: शुद्धिर्भावशुद्धिस्तथान्तरम्।। वही, पृ. ४६९

एक अन्य सन्दर्भ में इस प्रकार का कथन किया गया है कि आचार्य से आज्ञा प्राप्त करने के उपरान्त योग्य कन्या से विवाह करके अपने वर्ण के अनुकूल द्रव्योपार्जन करता हुआ गृहस्थ सुख से अपना समय व्यतीत करे। वह पितरों को पिण्डदानानि से, देवताओं को यागादि से, अतिथियों को अन्नदान से, ऋषियों को स्वाध्याय से, प्रजापति को पुत्रोत्पादन से, भूतों को बलि से और सम्पूर्ण विश्व को वात्सल्य भाव से सन्तुष्ट करे। अपने इन्हीं कर्मों से वह श्रेष्ठ लोक को प्राप्त कर लेता है। इस तरह से अपने वर्ण धर्म का पालन करने वाला गृहस्थ बन्धनों से छूट कर अत्युत्तम लोक को प्राप्त करता है[१]।

एक पुराण में तो गृहस्थ के दो भेद कहे गए हैं और यह कहा गया है कि उदासीन और साधक के भेद से गृहस्थ दो प्रकार के होते हैं। जो कुटुम्ब के भरण-पोषण में लगा रहता है, वह गृहस्थ साधक कहा जाता है। जो देव ऋण, पितृऋण तथा ऋषि ऋण से उऋण होकर स्त्री तथा धन आदि का परित्याग कर देता है, वह मोक्ष की इच्छा करने वाला उदासीन गृहस्थ कहा जाता है[२]।

---

१. विधिनावाप्तदारस्तु धनं प्राप्य स्वकर्मणा।
गृहस्थकार्यमनिशं कुर्याद् भूपाल शक्तितः।।
पिण्डान् पितॄनर्चयन् यज्ञैर्देवांस्तथातिथीन्।
अन्नैर्मुनींश्च स्वाध्यायैरपत्यैश्च प्रजापतिम्।।
भूतानि बलिभिश्चैव वात्सल्येनाखिलं जगत्।
प्राप्नोति लोकान् पुरुषो निजकर्मसमर्जिताम्।। वि.पु. (१), पृ. ४०७

२. उदासीनः साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत।
कुटुम्बमरणे यत्तः साधकोऽसौ गृही भवेत्।।
एकाकी यस्तु विचरेदुदासीनः सः मौक्षिकः।। कू. पु. २/७६-७७

इसी पुराण में गृहस्थ के कर्तव्यों के रूप में यह कहा गया है कि गृहस्थ को चाहिए कि वह अपने समान अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति से मित्रता करे। ईश्वर की आराधना करे। देवताओं की पूजा करे तथा अपनी भार्या का विधिपूर्वक पालन-पोषण करे। विद्वान् गृहस्थ को यह चाहिए कि वह अपने मुख से अपने द्वारा किए गए धर्म का कथन न करे और न अपने द्वारा किए गए अपकर्म को छिपाए। अपने आत्मकल्याण का प्रयत्न करे तथा सभी प्राणियों पर दया करे। अपनी अवस्था, कर्म, सम्पत्ति, ज्ञान और कुल के अनुसार सादा वेष धारण करे तथा संयत वाणी का प्रयोग करे[१]।

इसी प्रकार से यह भी कहा गया है कि गृहस्थ नित्य स्वाध्यायपरायण होता हुआ, सत्य बोले। क्रोध पर विजय प्राप्त करे। नित्य स्नान और संध्यावन्दन करे। राग, भय और क्रोध से रहित, लोभ तथा मोह से शून्य, गायत्री के जप में तत्पर रहने वाला, श्राद्ध करने वाला गृहस्थ मुक्त हो जाता है। माता, पिता, गौ, ब्राह्मण का हित करने वाला जितेन्द्रिय , यज्ञ करने वाला तथा देवताओं के पूजन में निरत रहने वाला ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है[२]।

---

१. संख्यं समाधिकैः कुर्यादुपेयादीश्वरं सदा।
दैवतान्यपि गच्छेत कुर्याद् भार्याभिपोषणम्।।
न धर्मं ख्यापयेद् विद्वान् न पापं गुह्येदपि।
कुर्वीतात्महितं नित्यं सर्वभूतानुकम्पकः।। कू. पु., पृ. २८३

२. नित्यं स्वाध्यायशीलः स्यान्नित्यं यज्ञोपवीतवान्।
सत्यवादी जितक्रोधो ब्रह्मभूयाय कल्पते।
संध्यास्नानपरो नित्यं ब्रह्मयज्ञपरायणः।
अनसूयो मृदुर्दान्तो गृहस्थः प्रेत्य वर्धते।।
वीतरागभयक्रोधो लोभमोहविवर्जितः। वही, पृ. २८३

गृहस्थ के लिए जो अन्य पौराणिक सन्दर्भ हैं उनमें भी कुछ इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए गए हैं जिनमें यह कहा गया है कि मूर्ति पूजा, उपवास, तीर्थ-यात्रा, मन्त्र जप, भगवान् के स्वरूप का ध्यान, नाम-संकीर्तन,श्रवण, वन्दन, चरण-सेवन, प्रसाद ग्रहण, भक्तों की सेवा आदि ऐसे कार्य हैं जिनसे केवल स्वर्ग ही सुलभ नहीं होता अपितु इस मार्ग पर चलने वाले को मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है। यदि गृहस्थ इस पथ का अनुसरण करता है तो वह शीघ्र ही अपने जीवन में कल्याण प्राप्त कर लेता है[१]।

श्रीमद्भागवत पुराण में गृहस्थ धर्म के पालन के रूप में भगवद् भक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि गृहस्थ को कुटुम्ब में बहुत अधिक आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। जिसप्रकार से यात्रा में पथिक मिल जाते हैं वैसे ही पुत्र, स्त्री, बन्धु-बान्धवों के संगम को समझना चाहिए। घर में इस रूप में निरपेक्ष भाव से रहना चाहिए जैसे कोई अतिथि किसी दूसरे के घर में निरपेक्ष भाव से रहकर निवास करता है। जो गृहस्थ विषय-भोगों में पड़ा रहता है, वह नरक का अधिकारी बन जाता है[२]।

---

१. भा. म. पु. ४/१२/४४-५२

२. यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनपीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्।।
कुटुम्बेन् न सज्जेत् न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येद् अदृष्टमपि दृष्टवत्।
पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा।।
कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिभान्।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेद् प्रजावान् वा परिव्रजेत्।। भा.म.पु., पृ. ७०१

गृहस्थ का यह कर्तव्य हैं कि वह घर पर रहते हुए गृहोचित कर्मों का सम्पादन करता हुआ उन्हें वासुदेव को समर्पित कर दे। उसकी जाति के लोग, माता-पिता, भाई-बन्धु अन्य मित्रादि जैसी भी इच्छा करें अथवा जो कहें, सद्गृहस्थ को उसका अनुमोदन कर देना चाहिए।

गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह सन्तोष वृत्ति वाला होवे। यदि उसे धन प्राप्त भी हो जावे तो वह उसका अधिक संग्रह न करे। उसे चाहिए कि जो धन उसके पास संगृहीत हो गया है, उसे समाज के कार्य में लगा देवे क्योंकि मनुष्य का अधिकार केवल उतने ही धन पर है जिससे उसके जीवन का निर्वाह हो सकता होवे। इससे अधिक जो भी धन चाहता है अथवा धन का संग्रह करता है, वह चोर है और दण्ड पाने का अधिकारी है। गृहस्थ की ऐसी वृत्ति होनी चाहिए जिसमें वह मनुष्य के अतिरिक्त पशु-पक्षियों को भी अपना जैसा ही मानें अर्थात् मनुष्य से पृथक् जो जीव हैं, उनके प्रति भी सदय रहे। उसे अर्थ के लिए बहुत अधिक श्रम नहीं करना चाहिए, अपितु अपने पास के अर्थ को सभी में वितरित कर देना चाहिए[१]।

---

१. सत्संगात् शनकैः संगमात्मजायात्मजादिषु।
विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः।।
ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः।।
यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकंयोऽभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति।। भा. पु., पृ. ३८०

गृहस्थ के लिए सन्तोष की वृत्ति का महत्त्व अन्य स्थानों पर भी कहा गया है। जैसे कि एक अन्य पुराण में यह कहा गया है कि गृहस्थ को अपनी जीविका की वृत्ति कम करनी चाहिए। उसे धन बढ़ाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। सम्पूर्ण वेदों के अध्ययन तथा यज्ञों के सम्पादन से भी वह कल्याण नहीं प्राप्त होता जो सन्तोष वृत्ति से प्राप्त होता है। जो ब्राह्मण गृहस्थ है उसे दान लेने से बचना चाहिए। यदि वह दान लेता भी है तो वह केवल अतिथि के उपयोग के लिए ही दान लेवे। ऐसा इसलिए है क्योंकि अविचारित दान लेने से ब्राह्मण का तप और तेज नष्ट हो जाता है। दान को कभी भी अपनी जीविका का साधन नहीं बनाना चाहिए[१]।

गृहस्थ आश्रमवासियों के लिए यह विधान भी किया गया है कि वे वहीं पर निवास करें जहाँ उनके सभी प्रकार के अभ्युदय की सम्भावना होवे। जहाँ ऋण देने वाले, उपचार करने वाले, वेद पाठ करने वाले, ब्राह्मणवृत्ति का आचरण करने वाले तथा जलपूर्ण नदियाँ न होवें, वहाँ पर गृहस्थ को निवास नहीं करना चाहिए। मार्कण्डेय पुराण में यह कहा गया है कि जिस स्थान पर निरालस्य किसान रहते होवें, वे सभी प्रकार के अन्न उत्पन्न करते होवें, वहाँ गृहस्थ को सुख पूर्वक निवास करना चाहिए। जहाँ पर विजय की इच्छा रखने वाले, पहले से ही शत्रुता मानने वाले और सदा उत्सव में लगे रहने वालें हों, वहाँ नहीं रहना चाहिए[२]।

---

१. प. पु. सृष्टि खण्ड ५७/७०-८०

२. मा. पु. ३४ वाँ अध्याय

## गृहस्थ की श्रेष्ठता

संस्कृत के प्रख्यात नाटककार कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में लिखा है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का पालन करने वाला व्यक्ति अन्ततः अपने जीवन संचालन के लिए गृहस्थ के पास ही जाता है, इसलिए गृहस्थाश्रम ही अन्य आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ और वरिष्ठ आश्रम है। वे इस आश्रम को मुनि आश्रम की भाँति श्रेष्ठ और वरिष्ठ बताते हुए दुष्यन्त के जीवन का स्वरूप एक मुनि की भाँति बताते हैं तथा दुष्यन्त के जीवन का चित्रण एक मुनि की भाँति ही करते हैं[१]।

गृहस्थ जीवन की श्रेष्ठता का कथन अन्य स्थानों पर किया गया है और कहा गया है कि गृहस्थ के पास धन, गौ, भृत्य तथा अतिथि अधिकाधिक संख्या में होने चाहिए। इनके बिना वह कृश है। गृहस्थ सभी प्राणियों के भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी है। गृहस्थधर्म यज्ञ धर्म है और इसी से यज्ञीय विधियाँ सार्थक होती हैं[२]।

किसी असंयोग से यदि गृहस्थ दरिद्र है तो भी उसके घर में तृण,भूमि, पानी और मधुर वाणी का अभाव नहीं होना चाहिए। आर्त के लिए शयन, थके व्यक्ति के लिए आसन, प्यासे के लिए पानी, भूखे के लिए भोजन आदि की व्यवस्था गृहस्थ के घर में होनी चाहिए[३]।

गृहस्थधर्म में रहने वाले का आचरण इसीलिए श्रेष्ठ रखने का विधान भी कहा गया है। वह इन्द्रियों के विषय में अनासक्त हो, शठता और कपट से दूर रहे, अपने व्यवहार में सत्य का प्रयोग करे तथा मृदु भाषण वाला एवम् क्षमाशील होवे।

---

१. अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः कवलं राजपूर्वः।।अ. शा. २/१४

२. संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना।। म.भा.वन. २/५३

३. वही, २/५२-५३

महाभारत में यह कहा गया है कि गृहस्थ यदि ब्राह्मण है तो उसका जीवन और अधिक शुचितामय होना चाहिए। सब से अच्छा गृहस्थ ब्राह्मण वह है जो अपना जीवन कपोतवृत्ति से चलाता हो। अर्थात् जिसप्रकार से कपोत दाने चुगकर अपना जीवन चलाता है, अगले दिन के लिए कुछ संचित नहीं करता है उसी तरह से श्रेष्ठ गृहस्थ ब्राह्मण को आचरण करना चाहिए। द्वितीय कोटि का गृहस्थ ब्राह्मण वह है जो एक दिन के लिए केवल अन्न संग्रह करता है। यदि कोई गृहस्थ ब्राह्मण एक माह के लिए अपने लिए अन्न एकत्रित कर लेता है तो वह निम्नकोटि का गृहस्थ ब्राह्मण है। और सर्वाधिक निकृष्ट ब्राह्मण गृहस्थ वे हैं जो एक वर्ष के लिए अपने लिए अन्न का संग्रह कर लेते हैं।

सभी ब्राह्मणों के लिए तपोमय जीवन बिताना आवश्यक था और उनके लिए यह नियम था कि वे रात्रि के प्रथम प्रहर तथा अन्तिम प्रहर में सोएँ नहीं और न ही दिन में दो बार से अधिक भोजन करें। ब्राह्मण गृहस्थ चाहे कपोतवृत्ति से ही जी रहा हो किन्तु द्वार पर आए हुए अतिथि का सत्कार करना उसके लिए अपरिहार्य था। चाण्डाल से लेकर, संन्यासी तक उसके आतिथ्य की परिधि में आते थे[१]। महाभारत में तो गृहस्थ और संन्यासी के जीवन की तुलना करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य के जीवन का परम उद्देश्य है। व्यक्ति यह उद्देश्य किसी भी आश्रम में रहकर पूरा कर सकता है। गृहस्थ भी इस उद्देश्य की पूर्ति में सक्षम है[२]।

---

१. म. भा. शान्ति अ. २३५

२. वही २६२/१३

स्मृतिकारों में आचार्य मनु ने लिखा है कि जिस प्रकार प्राण वायु के आश्रय से सभी प्राणी जीवन जीते हैं इसी प्रकार से गृहस्थ के सहारे से सभी आश्रम के मनुष्य जीवित रहते हैं। वे लिखते हैं कि वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और संन्यासी अन्नादि सभी कुछ गृहस्थाश्रम से प्राप्त करके अपना पालन करते हैं। यही कारण है कि यह आश्रम सभी अन्य आश्रमों से श्रेष्ठ है। महर्षि लिखते हैं कि जो मरने के बाद स्वर्ग और जीवित रहने पर सुख की कामना करते हैं उन्हें प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए किन्तु जो दुर्बल इन्द्रियों वाले हैं वे इस आश्रम का पालन नहीं कर सकते[१]।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी गृहस्थ के लिए यह विधान किया है कि वह अधिक मात्रा में परिग्रही न हो, अर्थात् वह अपने लिए इतना अधिक अर्थ संग्रहीत न करे जिससे उसके मन में लोभवृत्ति जागृत हो जाए और वह अपने धर्म से विमुख हो जाए। इसलिए वे एक स्थान पर लिखते हैं कि कोठली भर अन्न वाले, घड़े भर अन्न वाले, तीस दिन के निर्वाह के लिए अन्न वाले, दिन भर के भोजन योग्य अन्न वाले और अन्न बीनकर जीवन चलाने वालों में बाद के उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं[२]।

---

१. यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमाः।।
यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नं चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्तेतस्माज्जेष्ठाश्रमो गृही।।
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यंयोऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियः।। म. स्मृ. ३/७७-७९

२. कुशूलकुम्भीधान्यो वा त्र्याहिकोऽश्वस्तनोऽपि वा।
जीवेद्वापि शिलोञ्छेन श्रेयानेषां परः परः।। या. स्मृ. पृ. ५६

पौराणिक आचार्यों ने भी अनेक विधियों से गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का कथन किया है। श्री विष्णु पुराण में यह कहा गया है कि भिक्षावृत्ति पर निर्भर रहने वाले परिव्राजकों और ब्रह्मचारियों आदि का आश्रय भी यह गृहस्थाश्रम ही है, इसलिए इस आश्रम को श्रेष्ठ आश्रम कहा गया है। जो ब्राह्मणगण हैं, वे वेदाध्ययन के निमित्त, तीर्थाटन के निमित्त तथा देवदर्शन के निमित्त पृथिवी पर भ्रमण करते रहते हैं। उनमें से जिनका कोई निश्चिय घर नहीं होता और जिनके भोजनादि की व्यवस्था नहीं होती वे विश्रामादि के लिए इन्हीं गृहस्थाश्रम वासियों के यहाँ ही ठहरते हैं। इसलिए यह आश्रम सबको आश्रय देने के कारण श्रेष्ठ आश्रम है[१]।

एक अन्य स्थान पर गृहस्थ के सद्धर्मों का कथन करते हुए यह कहा गया है कि जो गृहस्थ अपने कर्तव्य का विधिपूर्वक पालन करता है और परमात्मा के चरणों में अपनी अगाध भक्ति रखता है, वह चाहे गृहस्थाश्रम में रहे अथवा अन्य किसी आश्रम में जाकर परिव्राजक हो जाए वह सर्वत्र कल्याण प्राप्त करने का अधिकारी होता है[२]।

---

१. भिक्षाधुजश्च मे केचित् परिव्राड्ब्रह्मचारिणः।
तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्।।
वेदावगाहनकार्याय तीर्थस्नानाय च प्रभो।
अटन्ति वसुधां विप्राः पृथिवीदर्शनाय च।।
अनिकेता ह्यनाहारी यत्र सायं गृहाश्च ये।
तेषां गृहस्थः सर्वेषां प्रतिष्ठा योनिरेव च।। वि. पु. (१), पृ. ४०७-४०८

२. इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन्।
तिष्ठेत् वनं वोपवसेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत्।। भा. पु., पृ. ७०१

## अतिथि सेवा

इस देश की परम्परा में प्राचीनकाल से ही अतिथि सत्कार की परम्परा रही है। गृहस्थों के लिए जिन पंच यज्ञों का विधान कहा गया है, उनमें नृयज्ञ का अभिप्राय ही अतिथि सत्कार से है[१]। इन पंच यज्ञों के लिए यह कहा गया है कि जब अग्नि में आहुति दी जाती है तो वह देव यज्ञ है। जब पितरों को स्वधा दी जाती है तो वह पितृयज्ञ है। जब जीवों को बलि दी जाती है तो वह भूत यज्ञ है और जब ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता है तो वह भूत यज्ञ होता है तथा जब स्वाध्याय किया जाता है तब ब्रह्म यज्ञ होता है[२]।

पंच महायज्ञों के संबंध में महर्षि मनु ने भी ऐसा ही मन्तव्य दिया है। उन्होंने लिखा है कि अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण करना पितृयज्ञ है। हवन करना देव यज्ञ है, बलि देना, भूत यज्ञ है और अतिथि सत्कार नृयज्ञ है[३]।

अतिथि सत्कार की परम्परा को वैदिक काल से ही देखा जा सकता है। अग्नि के लिए प्रार्थना करते हुए यह कहा गया है कि तुम उसके रक्षक और मित्र बनों जो तुम्हें विधिवत् आतिथ्य देता है[४]। इसी तरह से एक अन्य स्थान में लिखा है कि जब घर में अतिथि का पदार्पण होता है तो उसका आतिथ्य किया जाता है[५]। इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह लिखा है कि राजा के साथ जो आते हैं उनका आतिथ्य होता है[६]। कठोपनिषद् में ब्राह्मण अतिथि को अग्नि (वैश्वानर) कहा गया है[७]।

---

१. पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्य यज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। श. ब्रा. ११/५/६/७

२. ध. इ. (१), पृ. ३८३

३. अध्यापनं ब्रह्म यज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिभूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। म. स्मृ., पृ. ९१

४. प्रियो विशामतिथिर्मानुषीणाम्। ऋक् ५/१/९

५. तै. सं. ५/२/२/४

६. वही ६/२/१/२

७. क. उ., १/७/९

अतिथि किसे कहा जाता है, इसका विवरण स्मृतिकारों ने किया है। महर्षि मनु ने यह लिखा है कि अतिथि उसे कहा जाता है जो पूरे दिन नहीं रुकता है। अथवा अतिथि वह ब्राह्मण है, जो एक रात्रि के लिए रुकता है[१]। इसके अतिरिक्त मनु एवं महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि वही व्यक्ति अतिथि है, जो दूसरे ग्राम का है, एक ही रात्रि के रहने के लिए सन्ध्याकाल में पहुँचता है[२]।

अतिथि सत्कार करने का निर्देश भी सभी स्थानों पर प्राप्त होता है। जैसे कि एक स्थान पर यह लिखा है कि वलिहरण के उपरान्त गृहस्थ को अपने घर के आगे अतिथि के स्वागत के लिए उतनी देर तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जितनी देर में गाय दुह ली जाती है[३]। एक सूत्रकार ने अतिथि के सत्कार के लिए यहाँ तक लिखा है कि वैश्व देव के उपरान्त जो भी आए उसे भोजन देना चाहिए। यहाँ तक कि चाण्डाल भी यदि उस समय आवे तो उसे भी भोजन देकर सत्कृत करना चाहिए[४]। महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि जिस प्रकार पेड़ काटने वाले को भी छाया प्रदान करता है, उसी प्रकार यदि शत्रु भी आ जाए तो उसका आतिथ्य सत्कार करना चाहिए[५]। महर्षि मनु तथा याज्ञवल्क्य ने यह लिखा है कि गृहस्थ के पास यदि कुछ भी न हो तो उसे जल, निवास, बैठने का स्थान देकर अतिथि का सत्कार करना चाहिए[६]।

---

१. एक रात्रं हि निवसन् ब्राह्मणो ह्यतिथिः स्मृतः।
अनित्यास्यस्थितिर्यस्मात्तस्मादतिथिस्त्च्यते।। म. स्मृ.३/१०२

२. या. स्मृ. १/१०७

३. बौ. गृ. सू. २/९/१-२

४. आ. ध. सू. २/४/९/५

५. म. आ. शान्ति १४६/५

६. म. स्मृ. ३/१०१, या. स्मृ. १/१०७

पुराणों में भी अतिथि सत्कार का महत्त्व कहा गया है और अतिथि के लिए देववत भाव रखने का विधान है। एक पुराण में यह उल्लेख है कि गृहस्थाश्रमवासी को चाहिए कि वह यथाशक्ति अतिथि को तथा अन्यों को भोजन करावें। जो अतिथि सायंकाल घर पर आ जावे उसे भी निराश्रित न करे अर्थात् उसे घर से वापस न करे। द्वार पर आए हुए ब्रह्मचारी और संन्यासी को भी यथाशक्ति भिक्षा देनी चाहिए। जो भी द्वार पर आवे उसे भिक्षा देना गृहस्थ का सद्धर्म है[१]।

विष्णु पुराण में यह वर्णन आया है कि जब किसी गृहस्थ के घर आया हुआ अतिथि वापस चला जाता है तो वह अपने सभी अपकर्मों का फल उस गृहस्थ को दे जाता है और उस गृहस्थ के सत्कर्मों के फलों को अपने साथ ले जाता है। यही नहीं जब कोई व्यक्ति गृहस्थ धर्म का परित्याग कर देवे और वानप्रस्थाश्रम में पहुँच जावे तब भी वह वहाँ पर देव पूजन, हवन के साथ अतिथि सत्कार में विघ्न न होने देवे।

इसी पुराण में अतिथि के सत्कार के सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि जिसके पास कोई सामान न हो, जिससे कोई सम्बन्ध न हो, जिसके वंशादि का ज्ञान न हो और जो भोजन करने का इच्छुक होवे ऐसे अतिथि का सत्कार न करना और उसे भोजन न कराना अधोगति प्राप्त करना है[३]।

---

१. ग. पु., पृ. १४२

२. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति।।
देवताभ्यर्थनं होमसर्वाभ्यागत पूजनम्।
भिक्षावलिप्रदानं च शस्तमस्य नरेश्वर।। वि. पु. (१), पृ. ४०८-४०९

३. अकिञ्चनमसम्बन्धमज्ञातकुलशीलिनम्।
असम्पूज्यातिथि भुक्त्वाभोक्तकामं व्रजत्यधः।। वही, पृ. ४२४

पुराणकार यह लिखते हैं कि देव, अतिथि, ब्राह्मण और भिक्षुक में चारो मिलकर अतिथि कहे जाते हैं। इन चारों का जो स्वागत करता है वह पुण्य का भागीदार बनता है। धाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसुगण और अर्यमा सभी देवता अतिथि के शरीर में बैठकर उसके साथ भोजन करते हैं। इसलिए अतिथि सत्कार के लिए गृहस्थ पुरुष को सदा यत्नशील रहना चाहिए। जो मनुष्य अतिथि को भोजन कराए विना स्वयम् ही भोजन कर लेता है, वह केवल पाप का ही भक्षण करता है[१]।

एक अन्य स्थान पर भी इसी प्रकार का सन्दर्भ दिया गया है और वहाँ पर यह कहा गया है कि जो किसी अन्य ग्राम या नगर से आया हो और जिसके नाम एवं गोत्र का भी ज्ञान न हो उसे ही विद्वद् जन अतिथि कहते हैं। अतिथि का सत्कार तथा अर्चन भगवान् विष्णु के ही तुल्य करना चाहिए[२]। वायु पुराण का यह कथन है कि योगी तथा सिद्धजन मनुष्यों के कल्याण के लिए विविधरूप धारण करके घूमते रहते हैं। इसलिए इनका अतिथिवत सत्कार करना चाहिए[३]। इस प्रकार से जिस तरह प्राचीन परम्परा अतिथि के महत्त्व का आख्यान करती है, पुराणों में भी उसी प्रकार से अतिथि के महत्त्व का आख्यान किया गया है और उनका स्वागत करने का निर्देश दिया गया है।

---

१. धाता प्रजापतिः शुक्रो बह्निवसुगणोऽर्यमा।
प्रविश्यातिथिमेते वै सृञ्जन्तेऽन्नं नरेश्वर।।
तस्मादतिथिपूजायां यतेत सततं नरः।
स केवलमघभुंक्ते यो अतिथिं बिना।। वि. पु. (१) ४२५

२. अज्ञातगोत्रनामानमन्यग्रामादुपागतम्।
विपश्चितोऽतिथि प्राहुर्विष्णुवत्तं प्रपूजयेत्।। ना. पु. (१), पृ. ४८२

३. वा. पु. ७१/७४, मा. पु. २९/३१

## दान वृत्ति

गृहस्थ का धर्म अपने परिवार के दायित्व का पालन करने के साथ-साथ ब्राह्मण, दीन और आर्त का सहयोग करना भी होता है। इसलिए प्राचीन समय से ही दान की महत्ता का कथन किया गया है और गृहस्थ के लिए उसे महत्त्वपूर्ण बताया गया है। इसलिए महर्षि मनु ने लिखा है कि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग में धार्मिक जीवन के रूप में तप, ज्ञान तथा दान और यज्ञ महत्त्वपूर्ण हैं[१]।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें दान की महत्ता का संकेत किया गया है। वहाँ पर जो वर्णन है उसके अनुसार गाय, रथ, अश्व, ऊँट, दासी और भोजन आदि के दान देने का कथन है[२]। इसीप्रकार से दान की महत्ता का निर्देश करते हुए एक स्थान पर यह कथन है कि जो गायों का दान करता है वह स्वर्ग में स्थान पाता है, जो अश्वदान करता है वह सूर्य लोक में निवास करता है, जो स्वर्ण का दान करता है, वह देवता बनता है, जो वस्त्र दान करता है, वह दीर्घ जीवन पाता है[३]। एक उपनिषद् में अन्नदान का संकेत इस रूप में है जिसमें यह कहा गया है कि जानश्रुति पौत्रायण ने स्थान-स्थान पर ऐसी भोजन शालाएँ बनवा रखी थीं, जहाँ सभी लोग भोजन प्राप्त करते थे[४]।

---

१. तपः परं कृत युगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं फलौ युगे। म. स्मृ. १/८६

२. ऋक् ७/१८/२५-२५, ८/६/४६-४८, ८/६८/१४-१९

३. वही १०/१०७/२,७

४. छान्दो. ४/१-२

तैत्तरीय संहिता में यह कहा गया है कि व्यक्ति जब अपना सर्वस्व दान कर देता है तो वह भी तपस्या ही है। एक उपनिषद् मनुष्य के तीन गुणों का संकेत करती है, जिनमें दम, दान तथा दया का संकेत किया गया है[२]। ऐतरेय ब्राह्मण में सोना, पृथिवी और पशुदान देने की चर्चा है[३]। छान्दोग्योपनिषद् में यह वर्णन है कि जानश्रुति ने संवर्ग विद्या के अध्ययन हेतु रैक्व को एक हजार गायें, एक सोने की सिकड़ी, एक रथ खच्चर सहित और पुत्री को पत्नी रूप में प्रदान किया था[४]।

महर्षि मनु तथा याज्ञवल्क्य ने दान की महत्ता का आख्यान किया है। वहाँ पर यह लिखा है कि विद्या और तप से युक्त पात्र को दिया गया थोड़ा अथवा अधिक दान का फल मनुष्य को परलोक में मिलता है। इसलिए श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए[५]।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी इसी तरह से अपना मन्तव्य प्रकट किया है और लिखा है कि गाय, भूमि, तिल, सोना आदि का दान सुपात्र को देना चाहिए। अपात्र को दान नहीं देना चाहिए[६]।

---

१. तै. सं. ६/१/६/३
२. बृ. उ. ५/२/३
३. ऐ. ब्रा. ३९/६-७
४. तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्त्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे।। छान्दो ४/२/३
५. पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धानतयैव च।
अल्पं वा बहुवा प्रत्यदानस्य फलमश्नुते।। म. स्मृ. पृ. २५७
६. या. स्मृ., पृ. ९१

पौराणिक गृहस्थ के लिए जिन नियमों का कथन किया गया है उनमें यद्यपि उसके लिए धन के महत्त्व का कथन है[1], तथापि वहाँ पर यह भी कहा गया है कि धन हीनता अर्थात् धन का परित्याग गृहस्थ के लिए उसकी उन्नति का प्रथम सोपान भी है। धन नित्य दुख देता है और वह दुर्लभ होते हुए भी मृत्युदायी है तथा विद्वान् को भी मोहित कर देता है। श्रीमद्भागवत पुराण में यह वर्णन आया है कि मनुष्य जब निर्धन हो जाता है तो उसके संबंधी उसे छोड़ देते हैं। बार-बार प्रयत्न करने पर भी यदि किसी व्यक्ति को ईश्वर धनी नहीं बनने देता तो यह ईश्वर का अनुग्रह है[2]। इसी स्थिति में व्यक्ति धन कमाने की इच्छा छोड़ देता है और भगवद् भक्तों की शरण में जा पहुँचता है। यदि कुछ देवता प्रसन्न होकर व्यक्ति को धनी बना देते हैं तो वह व्यक्ति उन्हीं देवताओं को भूल जाता है। जो भी सम्पन्न हैं, और जो धन के मद में अन्धे हो गए हैं, ऐसे व्यक्तियों के लिए दरिद्रता एक अंजन है। दरिद्र किसी को कष्ट नहीं देता और जो दुख वह भोगता है, वह उसका तप है[3]।

---

१. वि. पु. ३/११/२३

२. यस्यामहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजत्यस्य स्वजना दुखदुखितम्।।
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्।। भा. म. पु. ६५९

३. असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्रयं परमञ्जनम्।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते।। वही, पृ. ४९७

गृहस्थ की दानवृत्ति का उल्लेख करते हुए इस महापुराण में यहाँ तक कहा गया है कि गृहस्थ को यदि धन प्राप्त भी हो जावे तो उसे उसका संग्रह नहीं करना चाहिए, अपितु यथा शीघ्र उसका प्रयोग परार्थ में करना चाहिए। मनुष्य का धन पर उतना ही अधिकार है जितने से उसका पेट भर जावे। इससे अधिक यदि वह अपने पास रखता है तो वह उसका चौर्य कार्य है। गृहस्थ के लिए केवल मनुष्य ही नहीं अपितु पशु-पक्षी भी उसके अपने ही पुत्रवत् हैं। गृहस्थ को धर्म, अर्थ और काम के लिए बहुत कष्ट नहीं उठाना चाहिए। उसे अपना धन चाण्डाल और कुत्तों तक में वितरित कर देना चाहिए[1]।

श्रीमद्भागवत में बलि और वामन का प्रसंङ्ग गृहस्थ द्वारा दिए जाने वाले दान का अप्रतिम उदाहरण है। भगवान् वामन बलि के समक्ष उपस्थित होकर तीन पग भूमि की याचना करते हैं। बलि उनकी याचना को तत्काल पूरा करता है। आचार्य शुक्र यह देख लेते हैं कि उनके शिष्य के साथ छल हो रहा है और वे बलि को दान से रोकते हैं। तब बलि कहता है कि संसार में दान का वचन देकर पूर्वजों ने अपने प्राणों तक का परित्याग किया है, इसलिए मैं भला कैसे दान के लिए दिए हुए वचन से विपरीत जा सकता हूँ[2]। यह प्रेय और श्रेय दोनों नहीं है।

---

१. यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।। भा. ग. पु., पृ. ३८०

२. यद् यद् दास्यति लोकेऽस्मिन् सम्परेतं धनादिकम्।
तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत्।।
श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः।
दध्यङ्.शिविप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु।। भा. म. पु., ४२३

विष्णु पुराण में गृहस्थ के धर्म की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि गृहस्थ यज्ञ के साथ-साथ सभी के लिए वलि प्रदान करे। वह अन्न लेकर समाहित मन से बैठे और प्राणियों को उद्देश्य बनाकर कहे कि मैं पशु-पक्षी, दैत्य, प्रेत-पिशाच, चींटी, पतंगों को यह अन्न वलि देता हूँ। जिनके माता-पिता नहीं हैं अथवा जिनके पास अन्न का साधन नहीं है उन्हें तृप्त करने के लिए मैंने भूमि में यह अन्न रख दिया है। वे इस अन्न को ग्रहण करके मुझे अनुगृहीत करें[१]।

इसी प्रकार से एक दूसरे स्थान पर गृहस्थ के लिए यह विधान किया गया है कि वह अपने ही ग्राम के किसी भगवान् के भक्त, श्रोत्रिय को प्रतिदिन अपने पितरों की तृप्ति के लिए अन्नादि देकर उन्हें सत्कृत करे[२]।

मत्स्यपुराण में ग्रहों की शान्ति-विधान में उनके निमित्त दिए जाने वाले दान का विस्तार से वर्णन किया गया है किन्तु संक्षेप में वहाँ यह कहा गया है कि गृहस्थ जो वैभव की आकांक्षा करता हो, वह दक्षिणा रहित यज्ञ कभी न करे। दक्षिणा देने से देवता सन्तुष्ट होते हैं[३]।

---

१. देवा मनुष्या पशवो वयांसि सिद्धास्सयक्षोरगदैत्य संघ।
प्रेता: पिशाचास्तरवस्समस्ता: ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्।।
पिपीलिका: कीटपतंगकाद्या विभुक्षिता: कर्मनिबन्धबद्धा:।
प्रयान्तु ते तृप्तिपदं मयान्नं तेभ्यो विवृष्टं सुखिनो भवन्तु।।
येषां न माता........................................................।। वि. पु. (१), पृ. ४२२-४२३

२. स्वग्रामवासिनं त्वेकं श्रोत्रियं विष्णुतत्परम्।
अन्नाद्यै: प्रत्यहं विप्र पितृनुद्दिश्य तर्पयेत्।। ना. पु. (१), पृ. ४८२

३. तस्मान्न दक्षिणाहीनं
कर्तव्यं भूतिमिच्छता
सम्पूर्णया दक्षिणयायस्मात्।
देवोऽपि तुष्यति।। म. पु. ९३/८२

मार्कण्डेय पुराण में अलर्क और मदालसा का संवाद निरूपित है। इसमें मदालसा अलर्क की जिज्ञासाओं का समाधान करती हुई गृहस्थ धर्म का निरूपण करती हुई कहती है कि जो गृहस्थ इस आश्रम का अवलम्बन करके सभी जीवों का पालन-पोषण करता है, वही यथार्थ में कल्याण का अधिकारी होता है और वही अपने द्वारा इच्छित लोकों के फल को भी प्राप्त करता है। देव, ऋषि, पितृ, भूत, नर, कृमि, कीट, पतंग, पशु-पक्षी आदि गृहस्थाश्रमी का आलम्बन करके जीवन यात्रा का निर्वाह करते हैं। गृहस्थ हमें हमारे निर्वाह के लिए अन्न देगा अथवा नहीं- यह चिन्ता करके गृहस्थ की मुख की ओर देखते हैं[१]।

गृहस्थ किस प्रकार से सम्पूर्ण जीवों का पालन पोषण करे-इसका एक रूपक भी वहाँ पर दिया गया है और कहा गया है कि गृहस्थ ही वेदमयी धेनुरूप है। यही धेनु सबकी आधारभूत है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इस धेनु में प्रतिष्ठित है और धेनु ही ब्रह्माण्ड का कारण है।

यह पुराण इसी क्रम में यह निरूपित करता है कि इसी दृष्टि से गृहस्थ को चाहिए कि वह सुर, नर, मुनि, कीट, पतंगादि के लिए वलि दे और उसी से अपने गृहस्थ धर्म का पालन करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो फिर वह अवमानना का भागीदार बनता है[२]।

---

१. वत्स गार्हस्थ्यमास्थाय नरः सर्वमिदंजगत्।
पुष्णाति तेन लोकांश्च स जयत्यमिवांछितम्।।
पितरो मुनयो देवा भूतानि मनुजास्तथा।
कृमिकीटपतंगाश्च वयांसि पशवोऽसुराः।।
गृहस्थमुपजीवन्ति ततस्तृप्तिं प्रयांति च।
मुखं चास्य निरीक्षन्ते अपि नो दास्यतीति वै।। मा. पु., पृ. १०६

२. वही, पृ. १०७

## वानप्रस्थाश्रम

श्री पी० वी० काणे महोदय ने अनेक सन्दर्भ देकर यह मत व्यक्त किया है कि सम्भवत: वैखानस शब्द का संबंध प्राचीन समय में प्रजापति के नखों से था। प्रतीत यह होता है कि प्राचीनकाल में वैखानस शास्त्र नाम का कोई ग्रन्थ था, जिसमें वन के मुनियों के संबंध में नियम लिखे हुए थे[१]। बौधायन धर्म सूत्र में यह कहा गया है कि वैखानस वह है जो वैखानस शास्त्र से अनुमोदित नियमों का पालन करता है। वही वानप्रस्थ कहा गया है[२]।

महर्षि मनु वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाले के लिए यह विधान करते हैं कि वह वैखानस मत के अनुसार चले[३]। महाभारत में शान्ति पर्व में यह विचार व्यक्त किया गया है कि धन के पीछे पड़ने की अपेक्षा धन एकत्रित करने की इच्छा न रखना ही श्रेयस्कर है[४]।

महर्षि याज्ञवल्क्य यह लिखते हैं कि अपनी पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर अथवा उसे साथ लेकर अग्नि और उपासना सहित वन में जाकर ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वानप्रस्थ होवे[४]। इस पर मिताक्षराकार कहते हैं कि वन में प्रस्थान कर जाना ही वानप्रस्थ है। और इस प्रकार वनप्रस्थ ही वानप्रस्थ है[५]।

---

१. ध. शा. इ. (१), पृ. ४८२

२. वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रसमुदाचारः। बौ. ध. सू. २/६/१९

३. पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत् सदा।
काल: पक्वै स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थित:।। म. स्मृ. , पृ. २२५

४. सुतविन्यस्तपत्नीकस्तथा वानुगतो वनम्।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्नि: सोपासनो व्रजेत्।। या. स्मृ., पृ. ४२६

५. वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरति वनप्रस्थ:, वनप्रस्थ एव वानप्रस्थ:। मिताक्षरा, पृ. ४३६

व्यक्ति को कब वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिए, इसका भी निर्देश प्राचीन समय में किया गया है। उपनिषदें इस संबंध में कोई स्पष्ट दिशा निर्देश नहीं करती हैं। वहाँ केवल यही संकेत मिलता है कि जब व्यक्ति को इस संसार की व्यर्थता का ज्ञान होने लगता था और उसके मन में आत्मज्ञान की भावना जागृत होती थी तो वह अरण्य के महत्त्व का अनुभव करता था और अरण्यवास के लिए उद्यत होता था। यही उसका तब का वानप्रस्थाश्रम होता था। महर्षि याज्ञवल्क्य की कथा से यह भी संकेत मिलता है कि गृहस्थ यदि चाहता था तो वह सीधे प्रव्रजित हो सकता था और तब उसे वानप्रस्थ आश्रम में जाने की आवश्यकता नहीं होती थी[१]।

बाद के समय में एक सर्वसामान्य नियम अवश्य दिखाई दिया जिसमें प्रायः यह कहा गया कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् यदि सांसारिक जीवन से विरति हो जाए तो घर छोड़ कर वन में निवास करे[२]। एक विद्वान् का यह मत है कि सूत्र और स्मृति युग में गृहस्थ और वानप्रस्थ दोनों आश्रमों में से प्रत्येक के लिए पचीस वर्ष नियत थे[३]।

महर्षि मनु ने यह लिखा है कि जब कोई व्यक्ति अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखे, उसके बाल पक जावें, और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जावें, तब उसे वन की राह लेनी चाहिए[४]। इस पर कुल्लूकभट्ट ने जो मनु स्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार हैं, अपना मतव्यत करते हुए पचास वर्ष की अवस्था को वानप्रस्थ के लिए ठीक माना है[५]।

---

१. बृह. २/४/१
२. हि. इ. लि. प्रथम, पृ. २३३
३. प्रा. सा. सा. भू., पृ. २९३
४. गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बली पतितमात्मना।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। म. स्मृ., पृ. २२२
५. म. स्मृ. ३/५० पर टीका

## गृह त्याग

गृहस्थ कब अपने घर पर परित्याग करे और किस अवस्था में वह वन में जावे, इसका भी विवेचन स्मृतियाँ करती हैं। इस सन्दर्भ में मनु स्मृति यह कहती है कि स्नातक ब्राह्मण यथाक्रम से गृहस्थाश्रम में रहकर शास्त्रोक्त विधान के अनुसार इन्द्रियों का संयम करता हुआ वन में निवास करे। इसी क्रम में यह निर्देश है कि गृहस्थ व्यक्ति जब अपने शरीर के श्वेत बाल देख ले और अपने शरीर की चमड़ी ढीली देखे तब वह अपने पुत्र के पुत्र को देखकर वन में प्रस्थान करे[१]।

महर्षि याज्ञवल्क्य भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हैं और वे यह निर्देश देते हैं कि व्यक्ति अपनी पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर अथवा उसे साथ लेकर अग्नि की उपासना सहित वन में जाकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करे। अर्थात् व्यक्ति चाहे तो साथ में पत्नी को ले जावे और यदि नहीं तो बिना पत्नी के ही वन में चला जावे[२]।

मिताक्षराकार अपना मन्तव्य इस रूप में देते हैं जिसमें वे यह कहते हैं कि यदि पत्नी पति के साथ उसकी सेवा की इच्छा से जाना चाहती है तो पति उसे लेकर वन में जावे[३]।

---

१. एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः।
वने वसेन्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः।।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। म. स्मृ., पृ. २२२

२. सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतो वनम्।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो ब्रजेत्।। या. स्मृ., पृ. ४३६

३. वही, पृ. ४३६

पुराणकारों ने भी वानप्रस्थ आश्रमवासियों के लिए गृह त्याग का विधान किया है और लिखा है कि जब गृहस्थ पुरुष अपने शरीर में झुर्रियों के चिन्ह देखे तो उसका कर्तव्य है कि वह अपनी भार्या को पुत्रों को सुपुर्द करके अर्थात् अपनी भार्या के पालन-पोषण का दायित्व पुत्रों को देकर अथवा अपने साथ वन में ले जाकर वानप्रस्थाश्रम में निवास करे।

श्रीमद् भागवतकार का यह मत है कि जो वन में रहने के इच्छुक हैं वे भार्या को घर में रखकर वन जा सकते हैं अथवा भार्या को साथ लेकर भी वन में निवास करने के लिए जा सकते हैं। ऐसा करके वे आयु के तृतीय भाग में शान्त मन से वन में निवास करें[२]। इसमें तृतीय भाग से तात्पर्य आयु के उस भाग से है जो पचास वर्ष के पश्चात् प्रारम्भ होती है।

एक अन्य पुराणकार का यह मत है कि आत्मशुद्धि के लिए गृहस्थधर्म पूर्ण होने पर व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। ऐसा वह तब करे जब अपने संतान की संतति को देख लेवे और यह देख लेवे कि अब उसकी अपनी देह अवनति की ओर है[३]।

---

१. दूषितां स्वयं दृष्टवा पलिताद्यैश्च सत्तम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा।। ना. पु. (१), पृ. ४८५

२. वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा।
वन एवं वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः।। भा. पु., पृ. ७०१

३. वानप्रस्थस्य धर्मं ते कथयाभ्यवधार्यताम्।
अपत्य संततिं दृष्ट्वा प्राज्ञो देहस्य चानतिम्।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेदात्मनः शुद्धिकारणात्।। मा. पु., पृ. १०५

कूर्म पुराण में वानप्रस्थाश्रम का संकेत करते हुए वहाँ पर दो प्रकार के वानप्रस्थियों का संकेत है। वहाँ पर यह कहा गया है कि एक प्रकार के वानप्रस्थी वे हैं जो वन में अनुष्ठान करते हैं, देवताओं की पूजा करते हैं, हवन करते हैं। और वन में रहकर स्वाध्याय करते हैं वे तापस वानप्रस्थ कहलाते हैं। और इसी प्रकार से जो वन में रहकर अत्यन्त तप से अपने आपको कृश कर लेते हैं तथा निरन्तर ध्यान परायण रहते हैं वे वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले सांन्यासिक वानप्रस्थी कहे जाते हैं[१]।

इन सभी संकेतों से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि प्राचीन समय में जीवन को चार भागों में विभाजित करने के पीछे मनुष्य की आयु को सौ वर्ष तक मानना था और प्रत्येक एक आश्रम को पचीस वर्ष का निर्धारित कर देना और फिर आयु के तृतीय भाग में वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने का विधान बहुतायत के साथ स्वीकृत था। यद्यपि इन आश्रमों के क्रम में भिन्नता है और गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता भी अनेक स्थानों में प्रतिपादित है तथापि वानप्रस्थाश्रम स्वीकार्य है।

---

१. तपस्तप्यति योऽरण्ये यजेद् देवान् जुहोति च।
स्वाध्याये चैव निरतो वानप्रस्थस्तपसो मतः।।
तपसा कर्षितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
सांन्यासिकः स विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः।। कू. पु. पू. वि. २/७८-७९

## तपस्या तथा स्वाध्याय

वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वालों के लिए तप करने का विधान प्रारम्भ से ही कहा गया है। साथ ही तप के साथ स्वाध्याय भी उनके जीवन का एक अंग कहा गया है। इस आश्रम में निवास करने वालों के लिए तप का जो स्वरूप निर्धारित था उसके अनुसार शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के तप का विधान इन्हें निर्धारित था।

वन में रहते हुए वानप्रस्थ आश्रमवासियों के लिए यह कहा गया है कि वे अपने जीवन को पवित्र बनाए रहें। इस दृष्टि से उनके लिए विधान था कि वे मृगचर्म अथवा पुराने वल्कल वस्त्र को धारण करें और नियमित रूप से प्रातः काल स्नान करें। उन्हें चाहिए कि वे अपने केशों और नाखूनों का कर्तन न करें। वे कभी भी अमावस्या और पूर्णमासी के पर्व के अनुष्ठान का त्याग न करें और यथा विधि अग्नि की उपासना की मर्यादा को रखते हुए अग्निहोत्र कार्य करते रहें। वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाले तपस्वियों को चाहिए कि वे चान्द्रायण विधान के अनुसार व्रत करें। कृष्ण पक्ष और शुक्लपक्ष का विशेष ध्यान रखें। इन पक्षों में भी विशेष रूप से व्रत के निर्वाह के लिए सन्नद्ध रहें। पूर्णिमा और अमावस्या में केवल एक बार 'यवागू' का आहार ग्रहण करें[1]।

---

१. वसीत चर्मचीरं वा सायं स्नायात् प्रगे तथा।
जटाश्च विभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च।।
वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथविधि:।
दशमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगत:।।
चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्ण च वर्तयेत्।
पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद् यवागूं क्वथितां सकृत्।। म. स्मृ. २२३-२२५

इसी प्रकार से वानप्रस्थवासी के लिए भोजन की शुद्धता पर भी विशेष बल दिया गया है जिसका अभिप्राय सम्भवतः यह हो सकता है कि ऐसा करने से वानप्रस्थी का मन पवित्र रहता है और उसका जीवन स्वच्छ रहता है। मनुस्मृतिकार लिखते हैं कि वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाले को वन में प्राप्त नीवारादि धान्य से आहार का निर्माण करना चाहिए और उसे अग्नि में हवन करना चाहिए। हवन से बचा हुआ जो अन्न होवे उसका ही भोजन इस आश्रम में निवास करने वाले को करना चाहिए[१]।

वानप्रस्थ आश्रमवासी का मुख्य कार्य तपस्या करना ही है। इसलिए वह अपने तप की वृद्धि के लिए ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तपे और वर्षाकाल में जल में तप करे। इसी तरह से शरद ऋतु में वह गीले कपड़े पहनकर तपस्या करे[२]।

वानप्रस्थ आश्रम में रहता हुआ व्यक्ति अधिक से अधिक संयम का पालन करे और जितना अधिक हो सके उतनी अधिक कठोर तपस्या में निरत रहे। वह ऐसे फल-मूलादि खाने की इच्छा न करे जो स्वादिष्ट हों। वह कभी भी स्त्री प्रसंग की कामना न करे। वह स्त्री-सम्पर्क से सदा ही दूर रहे। जहाँ रह रहा है, उस भूमि के प्रति मोहित न हो और वृक्ष की जड़ के पास रहकर अपना समय व्यतीत करे[३]।

---

१. देवताभ्यस्तु तद् हुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।
शेषमात्मनि भुञ्जीत लवणञ्च स्वयं कृतम्।। म.स्मृ. ६/१२

२. ग्रीष्मे पंचतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्दवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः।।

३. अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेऽवममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः।। वही ६/२३,२६

महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी इसीप्रकार का मत व्यक्त किया है जिसमें यह कहा गया है कि वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाला समय से चान्द्रायण व्रत करे। या तो वह एक मास के बीतने पर भोजन करे अथवा एक दिन बीतने पर भोजन करे[१]। वह ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तपे तथा वर्षा ऋतु में भीगी हुई भूमि पर सोवे। हेमन्त ऋतु में गीले वस्त्र पहन कर रहे एवम् अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या करे[२]।

वानप्रस्थाश्रमवासी के लिए यह कहा गया है कि वह मानसिक उद्वेग से दूर रहे। अर्थात् यदि उसके साथ कोई प्रतिकूल व्यवहार करे तो वह उस पर क्रोध न करे। यदि कोई अनुकूल व्यवहार करे तो उस पर बहुत अधिक राग न दिखावे[३]।

वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाला वानप्रस्थी अग्नियों की विधिवत उपासना करे अर्थात् अग्नियों को अपनी आत्मा की भाँति माने। वह अपने निवास के लिए कोई आश्रम अथवा कुटी न बनावे और वृक्ष के मूल में ही रहे। उसे ही अपना निवास स्थान माने। वह अधिक भोजन का इच्छुक भी न रहे और अल्पाहारी होकर जितने से जीवन यात्रा चले उतना ही अन्न मांगकर लावे और जितने अन्न से उदर पूर्ति हो जावे, उतना ही संचित करे[४]।

---

१. चान्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छैर्वा वर्तयेत् सदा।
पक्षे गते वाप्यश्नीयान्मासे वाऽहनि वा गते।।
ग्रीष्मे पंचाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशय:।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्तया वापि तपश्चरेत्।। या.स्मृ. पृ. ४४०

३. य: कण्टकेर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति।
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च।। वही, पृ. ४४०

४. अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा वृक्षाावासो मिताशन:।
वानप्रस्थगृहेष्वेव यात्रार्थं भैक्षमाचरेत्।। वही, पृ. ४४१

महर्षि याज्ञवल्क्य ने तो तपस्वी के जीवन को इतना कठोर बनाने के लिए कहा है जो तपस्या की चरम सीमा माना जा सकता है। जैसे उन्होंने यह लिखा है कि वानप्रस्थ में निवास करने वाला तपस्वी ग्राम की ओर जावे और वहाँ से अन्न मांगकर लावे। उसमें से केवल आठकौर खाकर वह तृप्त हो जावे और इससे अधिक की कामना न करे। अथवा वह वायु का भक्षण करते हुए अर्थात् उपवास करते हुए ईशान दिशा की ओर यात्रा करता हुआ चला जाए। यह उसकी यात्रा तब तक़ अनवरत चलती रहे जब तक उसके शरीर का पात न हो जावे। अर्थात् उसका शरीर समाप्त न हो जाए[१]।

पुराणों में भी इसी प्रकार से विचार किया गया है और वहां पर यह कहा गया है कि वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाला नित्य अग्नि होत्र करे तथा मुनियों के द्वारा उपयोग में लाने वाले अन्नों से पञ्चमहायज्ञ सम्पन्न करे। वह सभी प्राणियों पर दया करे तथा पौर्णमासयाग, नक्षत्रयाग, आग्रायण याग तथा चतुर्मास याग करे। वसन्त और शरत्काल में प्राप्त होने वाले अन्न का पुरोडाश और चरु बनावे तथा उसका देवताओं और पितरों को हवि प्रदान करे[२]।

---

१. ग्रामादाहृत्य वा ग्रासानष्टौ भुञ्जीत वाग्यतः।
वायुभक्षः प्रागुदीचीं गच्छेद् वाधर्ष्मसंक्षयात्।। या. स्मृ., पृ. ४४१

२. अग्निहोत्रं च जुहुयात् पञ्चयज्ञान् समाचरेत्।
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।।
वासन्तैः शारदैर्मेध्यैः मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।।
पुरोडाशांश्चरूश्चैव विधिवन्निर्वपेत् पृथक्।। कू.पु., पृ. ३४३

वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाले गृहस्थ को भोजन कैसा करना चाहिए और किस प्रकार से भोजन में शुचिता की रक्षा करनी चाहिए इसका भी कथन इस पुराण में किया गया है और वहाँ पर यह लिखा गया है कि वानप्रस्थाश्रमवासी भी मधु, मांस, भूस्तृण, शिग्रुक तथा श्लेषमातक फलों का प्रयोग न करे। जो भूमि हल से जोती गई हो और उसमें जो अन्न उत्पन्न किया गया हो, उसे भी वानप्रस्थाश्रमवासी ग्रहण न करे। जिस पदार्थ का परित्याग किसी ने कर दिया हो, उसे भी वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाले को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहाँ तक लिखा गया है कि वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाला कितने ही कष्ट में क्यों न होवे, वह ग्राम में उत्पन्न होने वाले फलों और पुष्पों का भक्षण कदापि न करे[१]।

वानप्रस्थाश्रम की कठिन तपस्या का इंगन करते हुए यह कहा गया कि प्रत्येक वर्ष के आश्विन मास में जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों, पूर्वसंचित पदार्थों तथा शाक-मूलादि का परित्याग कर देना चाहिए। उसे ऐसी वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए जो कपोतवृत्ति कही जाती है। अर्थात् जिस तरह कपोत दाना चुग कर खाता है और संचित नहीं करता, ऐसा ही उसे करना चाहिए[२]।

---

१. वर्जयेन्मधुमांसानि भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च।।
न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोपि पुष्पाणि च फलानि च।। कू. पु., पृ. ३४३

२. त्येजदाश्वयुजेमासि सम्पन्नं पूर्वसंचितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च।।
दन्तोलूखलिको वा स्यात् कापोतीं वृत्तिमाश्रयेत्।। वही, पृ. ३४४

तपस्या का निर्देश करते हुए पुराणकार यह भी लिखते हैं कि वानप्रस्थ त्रिकाल स्नान कर सन्ध्यावदन करें और देवताओं तथा पितरों को तर्पण करें। वे इस अवस्था में एक पैर से खड़े रहें अथवा सूर्य किरणों का पान करें। पञ्चाग्नि का सेवन करें अथवा धुएँ का सेवन करे। वे गिरे हुए पत्तों के सेवन से भी अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं[१]।

वानप्रस्थाश्रमवासी सदा योग का अभ्यास करता रहे। रुद्राध्याय का अध्ययन करे। वेदान्त के अभ्यास में निरन्तर लगा रहे। आलस्य रहित होकर निरन्तर नियम और आसनादि का पालन करे। कृष्ण मृग चर्म धारण करे और शुक्ल वर्ण का यज्ञोपवीत पहने[२]।

वह सदा अपने आत्मिक जीवन को प्रशस्त करता रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह उपनिषद् चिन्तन से स्वयम् को जोड़कर रखे। वह त्रिशिष्ट विद्याओं से कभी भी अपने को पृथक् न करे तथा गायत्री और रुद्राध्यायी के आवर्तन में निरत रहे[३]।

---

१. उपस्पृश्य त्रिषणवं तर्पयेत्।
एकपादेन तिष्ठेत् मरीचीन् वा पिवेत तदा।।
पञ्चाग्निर्धूमपो वा स्यादुष्मयः सोमपोऽपिवा।
पयः पिवेच्छुक्लपक्षे कृष्णपक्षे तु गोमयम्।
शीर्णपर्णाशिनो वा स्यात् कृच्छैर्वा वर्तयेत् तदा।। कू. पू., पृ. ३४५

२. योगाभ्यासरतश्च स्याद् रुद्राध्यायी भवेत् सदा।
अथर्वशिरसोऽध्येता वेदान्ताभ्यासतत्परः।। वही, पृ. ३४५

३. विविधाश्चोपनिषद् आत्मसंसिद्धये जपेत्।
विद्याविशेषेन सावित्रीं रुद्राध्यायं तथैव च।। वही, पृ. ३४५

एक पुराणकार का यह मत है कि जीवन में किए गए पापों की शुद्धि के निमित्त एवं आत्म उपकार के निमित्त वानप्रस्थाश्रम का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। इसके बाद ही भिक्षु नामक चरम आश्रम है[१]। इस पुराण में भी यही लिखा हुआ है कि वह त्रिकाल में स्नान करे तथा जटावल्कल धारणकर निरन्तर योगाभ्यास करे एवम् वन्यफलों का सेवन करे[२]।

एक दूसरे स्थल पर यह कहा गया है कि वानप्रस्थाश्रमवासी को चाहिए कि वह सदा फलों और फूलों का आहार करे तथा निरन्तर स्वाध्याय में निरत रहे। वह सभी प्राणियों पर दयाभाव बनाए रहे और भगवान् के प्रति निरन्तर भक्तिभाव की भावना से भरा रहे। उसे चाहिए कि वह ग्राम के भीतर उत्पन्न हुए फलों और मूलों का भोजन न करे। केवल वन में जो प्राप्त होवे उनका ही भोजन करे। इसी प्रकार से वह केवल आठ ग्रास भोजन ग्रहण करे जिससे उसका जीवन चलता रहे। वह भी रात्रि के समय में न ग्रहण करे। वानप्रस्थाश्रम में जाकर सदा ही शंख, चक्र, गदा और पद्म को धारण करने वाले भगवान् का ध्यान करना चाहिए और चान्द्रायणादि जिन व्रतों को शास्त्र में कहा गया है, उनका नियम पूर्वक पालन करना चाहिए[३]।

---

१. इत्येष पापशुद्ध्यर्थमात्मनश्चोपकारकः।
वानप्रस्थाश्रमस्तस्माद्भिक्षोस्तु चरमोऽपरः।। भा.म.पु., पृ. १०५

२. होमस्त्रिषवणं स्नानं जटावल्कलधारणम्।
मौनादिकरणं चैव वन्यस्नेहनिषेवणम्।। वही, पृ. १०५

३. भवेत् त्रिषवस्नायी नखश्मश्रुजटाधरः।
वर्जयेत् ग्राम जातानि पुष्पाणि च फलानि च।
अष्टौ ग्रासांश्च भुञ्जीत न कुर्यात् रात्रिभोजनम्।।
शंखचद्रगदापाणि नित्यं नारायणं स्मरेत्।। ना.पु.(१), पृ. ४८५

श्रीमद् भागवत महापुराण में यह कहा गया है कि वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाले वानप्रस्थाश्रमी को चाहिए कि वह समय-समय पर प्राप्त होने वाले अन्न का ही उपयोग करे और जो पुराना अन्न संचित है उसका परित्याग कर देवे। उसे यह भी चाहिए कि वह अग्नि की उपासना के निमित्त ही उटज का आश्रय लेवे। वह अपने आप में इतनी अधिक क्षमता बढ़ावे कि उसी से वह गर्मी, सर्दी और वर्षा आदि की विपरीत स्थितियों को सहन करे। वह अपने केशों का, नाखूनों का, रोमों का कर्तन कभी न करे। जटिली होकर अर्थात् केशों को बढ़ाकर अपना जीवन बितावे। उसके हाथ में दण्ड होवे, शरीर में वल्कलवस्त्र होवें और अग्नि की उपासना करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करे[२]।

इसके अतिरिक्त महर्षि व्यास यह भी विधान करते हैं कि वह कन्द, मूल और फल से अपना जीवन यापन करे और इसी से हवि भी प्रदान करे। वह अपने शरीर पर वल्कल वस्त्र धारण करे तथा तृण, पत्ते और मृग चर्म को धारण करता हुआ समय व्यतीत करे [२]।

---

१. वन्यैश्चरुपुरोडाशान् निर्वपेत् कालचोदितान्।
लब्धे नवे नवेऽन्नाधे पुराणं तु परित्यजेत्।।
अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम्।
श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षाकतिपषाट् स्वयम्।।
केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत्।
कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदानि।। भा.पु., पृ. ३७८

२. कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यै वृत्तिं प्रकल्पयेत्।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च।। वही, पृ. ७०१

## ब्रह्मचर्य व्रत का पालन

वानप्रस्थाश्रम के लिए ही नहीं, ब्रह्मचर्य व्रत का महत्त्व मनुष्य मात्र के लिए कहा गया है। महर्षि मनु महर्षि याज्ञवल्क्य और महर्षि वशिष्ठ ने यही मत व्यक्त किया है कि वानप्रस्थाश्रमवासी को पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए[1]।

पौराणिक परम्परा में तो यह निर्देश स्पष्ट रूप से किया गया है कि वानप्रस्थ आश्रम में जाने वाला वानप्रस्थी चाहे अपने साथ अपनी पत्नी को भले ही ले जावे किन्तु उसे उसके साथ रति कर्म करने का अधिकार नहीं है। वह पूरी तरह से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। कूर्म पुराण में तो यहाँ तक उल्लेख है कि जो वन में जाकर पत्नी के साथ मैथुन करता है वह वानप्रस्थ व्रत से च्युत हो जाता है और प्रायश्चित का भागीदार बनता है। वहाँ जो सन्तान होती है वह द्विजों के स्पर्श योग्य नहीं होती। ऐसी सन्तान का वेद में अधिकार नहीं होता[2]। ऐसा ही उल्लेख अन्य स्थानों पर भी कहा गया है, जहाँ पर वानप्रस्थियों द्वारा ब्रह्मचर्य पालन करने का निर्देश दिया गया है[3]।

---

१. वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्।
या.स्मृ. ३/४५, म.स्मृ. ६/२६

२. ब्रह्मचारी भवेन्नित्यं न पत्नीमपि संश्रयेत्।
यस्तु पत्या वनं गत्वा मैथुनं कामतश्चरेत्।
तद व्रतं तस्य लुप्येत प्रायश्चित्तीयते द्विजः।।
तत्र यो जायते गर्भो न संस्पृश्यो द्विजातिभिः।
न हि वेदेऽधिकारो तद् वंशेऽप्येवमेव हि।। कू.पु.,पृ. ३४४

३. अधः शायी ब्रह्मचारी पञ्चयज्ञपरायणः। ना.पु.,पृ. ४८५, मा.पु.,पृ. १०५

## स्वाध्याय तथा अतिथि सेवा

वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले तपस्वियों के लिए यह विधान भी प्राचीन काल से ही है कि वे अपने इस समय में स्वाध्याय करते रहें तथा अतिथि सेवा भी करें। उपनिषद् साहित्य का सृजन ही सम्भवत: इसी आश्रम में रहने वालों के लिए किया गया था क्योंकि इस आश्रम में निवास करने वाला तपस्वी यही चिन्तन करता था कि वह आत्मदर्शन का पथ किस रूप में प्राप्त करे और कैसे मुक्ति का लाभ उसे मिले। इसलिए इसी का अध्ययन और मनन करने के लिए वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वालों के लिए स्वाध्याय का विधान किया गया है।

पुराणकार भी इसका संकेत करते हैं और साथ ही वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाले के लिए अतिथि सेवा करने का भी संकेत करते हैं। एक स्थान पर यह निर्देश है कि वानप्रस्थाश्रमवासी भूतल में शयन करे, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे और अतिथि की परिचर्या भी करे[१]। एक स्थान पर यह निर्देश है कि वानप्रस्थाश्रमवासी भी निरन्तर स्वाध्याय में प्रवृत्त रहे[२]। कूर्म पुराण में स्वाध्याय करने का विधान करते हुए रुद्राध्यायी का पाठ करने के लिए कहा गया है तथा अथर्वशिरस् के साथ ही वेदान्त के अभ्यास का विधान वर्णित है। उपनिषदों के अध्ययन का विधान तो इसलिए वानप्रस्थाश्रमवासी के लिए है जिससे वह आत्मज्ञान की प्राप्ति कर सके[३]।

---

१. भूमौ शय्या ब्रह्मचर्यं पितृदेवातिथिक्रिया:।

मा.पु.,पृ. १०५

२. फलमूलाशनो नित्यं स्वाध्यायनिरतस्तथा।

ना.पु.,पृ. ४८५

३. विविधांश्चोपनिषद् आत्मसंसिद्धये जपेत्।
विद्याविशेषान् सावित्रीं रुद्राध्यायं तथैव च।।

कू.पु.,पृ. ३४५

## संन्यासाश्रम

इस आश्रम में पहुँचकर व्यक्ति एक अनन्त अवकाश का अनुभव करता है। जब तक वह पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री और भाई-बन्धुओं में फंसा रहता है तब तक उसकी बुद्धि का दायरा बहुत ही संकुचित होता है और इसी संकोच से वह सुख और दुख आदि के बन्धन में भी बंधा रहता है। संन्यास का विधान एक ऐसा ही विधान है जिसमें व्यक्ति का बौद्धिक विकास व्यापक हो जाता है और वह संसार के सुख-दुख से उपरम होने के मार्ग पर बढ़ता है। यही कारण है कि उपनिषद् में एक स्थान पर यह कहा गया है कि वे ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मसंस्थ होते हैं जो ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और गृहस्थाश्रम से उपरत हो चुके हैं[१]। इसीप्रकार से एक अन्य उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के सम्वाद की चर्चा है।वहाँ पर जब मैत्रेयी परम् प्राप्ति का हेतु जानना चाहती है तो याज्ञवल्क्य कहते हैं कि संसार के किसी भी पदार्थ की प्राप्ति से परमकल्याण नहीं हो सकता। इसके लिए तो मेरी ही तरह संसार के सभी भोग साधनों का परित्याग करना पड़ेगा। ऐसा ही करके संसार से छूटा जा सकता है और यही स्थिति परिव्राजक की स्थिति है[२]।

मनुस्मृति में यह निर्देश है कि अपनी अवस्था के तीसरे भाग में वन विहार करके और विषय को छोड़कर आयु के चतुर्थ भाग में संन्यासी हो जावे[३]।

---

१. त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयोब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानआचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।। छा.उ.,पृ.१४७

२. आत्मा वं अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेंद सर्वं विदितम्। ई.द्वा.उ.,पृ. ३०६

३. वनेषु च विहरत्येवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्।। म.स्मृ. ६/३२

## विरक्ति का भाव

महर्षि मनु ने संन्यासग्रहण करने के पूर्व के विधान का संकेत करते हुए यह लिखा है कि ब्राह्मण को चाहिए कि वह प्राजापत्य यज्ञ करे और उस यज्ञ में अपना सर्वस्वदान कर देवे। अपनी आत्मा को अग्नियों में आरोपित करके घर से निकल जावे। अर्थात् संन्यासाश्रम के लिए प्रव्रजित हो जावे[१]। यही भाव याज्ञवल्क्य महर्षि ने भी प्रकट किया है और लिखा है कि वन में अथवा घर में सम्पूर्ण दान करने वाली प्राजापत्य यज्ञ सम्पादित करके और उन्हीं अग्नियों में अपनी आत्मा को आरोपित करके घर की सम्पूर्ण सम्पत्ति दान में देकर मोक्ष में मन लगावे[२]।

पुराणकार भी इसी प्रकार का संकेत करते हैं और यह कहते हैं कि जब वानप्रस्थ में निवास करने वाले तपस्वी का मन पूर्ण रूप से विरक्त हो जाए और उसे संसार का कोई भी धन, कर्म और धर्म का फल बाधित न करे तब स्वयम् को अग्नियों में आरोपित करके संन्यास ग्रहण कर ले[३]। वह सभी प्रकार के मोह और माया से विरक्त होकर प्रव्रजित हो जावे।

---

१. प्राजापत्यं निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।। म. स्मृ. ६/६८

२. वनाद् गृहाद् वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्।
प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि।।
अधीतवेदोजपकृत् पुत्रवान्नदोऽग्निमान्।।
या. स्मृ.,पृ. ४४२

३. यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु।
विरागो जायतें सम्यक् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः।। भा.म.पु.,पृ. ७०२

संन्यासी को गृह त्याग करने के बाद वानप्रस्थ आश्रम में संकलित अन्न आदि का भी परित्याग कर देने का विधान है और यहाँ तक कहा गया है कि वह अपनी वृत्ति ऐसे चलावे जैसे कोई भिक्षुक अपनी वृत्ति चलाता है। उसे यह चाहिए कि वह सुख-साधन युक्त भवनों का त्याग करने के पश्चात् वन में यदि उटज आदि का आश्रय लिए हो तो उसका भी परित्याग कर देवे। वह भिक्षार्थी बन जावे और इसी रूप में ग्राम का आश्रय लेकर निवास करे[१]।

एक अन्य स्थान पर भी यही संकेत किया गया है कि संन्यासी के लिए जहाँ सभी प्रकार के भौतिक पदार्थों के परित्याग का विधान है, वहीं पर उनके लिए यह भी कहा गया है कि वह कर्म का विसर्जन करके भिक्षा के आश्रित हो जावे। इसका अभिप्राय सम्भवत: यह है कि वह कर्म के प्रति जो आसक्ति है, उसका परित्याग कर देवे और कर्म फल की कामना भी न करे[२]। एक स्थान पर यह कहा गया है कि जब सभी वस्तुओं के प्रति मन में वितृष्णा उत्पन्न हो जाए, तब संन्यास ग्रहण करने की इच्छा करनी चाहिए। इसके विपरीत यदि कोई संन्यास ग्रहण करता है तो मनुष्य पतित हो जाता है[३]।

---

१. सं.ग.पुराड., पृ. १५२

२. सर्वसंग परित्यागी ब्रह्मचर्यमकोपता। मा.पु.,पृ.१०५

३. योगाभ्यासरत: शान्तो ब्रह्मविद्यापरायण:।
तदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा संन्यासमिच्छेच्च पतित: स्याद् विपर्यये।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमाग्नेयीमथवा पुन:।
दान्त: पक्वकषायोऽसौ ब्रह्माश्रममुपाश्रयेत्।। कू.पु.,पृ. ३४६

## मुक्ति की इच्छा

एक स्थान पर संन्यासियों के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है। कुछ संन्यासी ज्ञान संन्यासी होते हैं, कुछ वेद संन्यासी होते हैं और कुछ कर्म संन्यासी होते हैं। जो सभी आसक्तियों से मुक्त हैं, सुख-दुख आदि के द्वन्दों से रहित हैं और निर्भय हैं, अपनी आत्मा में ही प्रतिष्ठित रहने वाले हैं, वे ज्ञान संन्यासी कहे जाते हैं। जो नित्य वेद का अभ्यास करते हैं, आशा रहित हैं, संग्रह शून्य हैं, जितेन्द्रिय हैं तथा मोक्ष की इच्छा रखने वाले हैं वे वेद सन्यासी कहे जाते हैं। जो अग्नियों को आत्मसात्कर ब्रह्मार्पण तत्पर रहते हैं वे कर्म संन्यासी कहे जाते हैं। इनमें से जो ज्ञान संन्यासी हैं उनके न कोई कर्तव्य होते हैं और न ही उनका कोई चिन्ह होता है। वे केवल मुमुक्षु ही होते हैं और मोक्ष के लिए ही प्रयत्नरत होते हैं[१]।

स्मृतियों में भी इस प्रकार का निदर्शन है कि जो ब्राह्मण धर्म के दशलक्षण पढ़ते है और पढ़कर उनपर आचरण करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं[२]।

---

१. ज्ञान संन्यासिनः केचिद् वेदसंन्यासिनः परे।
कर्मसंन्यासिनस्त्वन्ये त्रिविद्याः परिकीर्तिताः।।
यः सर्वसंगनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भयः।
प्रोच्यते ज्ञानसंन्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थितः।।
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निराशी निष्परिग्रहः।
प्रोच्यते वेद संन्यासी मुमुक्षुर्विजितेन्द्रियः।।
यस्त्वग्नीनात्मसात्कृत्वा ब्रह्मार्पणपरो द्विजः।
ज्ञेयः स कर्मसंन्यासी महायज्ञपरायणः।।
त्रयाणां चैतेषां ज्ञानी त्वभिधिको मतः।
न तस्य विद्यते कार्यं न लिंगं वा विपश्चितः।। कू. पु.,पृ. ३४६

२. म.स्मृ. ६/९३

## संन्यासी का जीवन

संन्यासी के लिए जीवन में सर्वस्व त्याग करने के साथ ही उसके जीवन को अत्यधिक कठोरता से व्यतीत करने का निर्देश है। कहा यह गया है कि संन्यासी को सन्ध्या के समय भिक्षा मांगनी चाहिए। जब भोजनालय की अग्नि शान्त हो गई हो और बर्तन आदि अलग रख दिए गए हों[१]। संन्यासी को कभी भरपेट भोजन भी नहीं करना चाहिए। उसे इतना ही भोजन करना चाहिए जितने में उसकी आत्मा उसके शरीर का साथ देती रहे। यदि उसे भिक्षा अधिक मिल जाए तो प्रसन्नता नहीं प्रकट करनी चाहिए और यदि कम भोजन मिले तो कष्ट का अनुभव भी नहीं करना चाहिए[२]।

संन्यासी के पास कुछ भी एकत्रित नहीं होना चाहिए। उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र तथा भिक्षा पात्र ही होना चाहिए[३]। मिताक्षराकार ने यह लिखा है कि संन्यासी के पास केवल जलपात्र, पादुका, आसन और शीत से बचाव के लिए कथरी होनी चाहिए[४]।

संन्यासी का भिक्षापात्र मिट्टी, लकड़ी अथवा तुम्बी का होना चाहिए। किसी भी दशा में उसे धातु के पात्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसे अपना पात्र जल से सर्वदा स्वच्छ रखना चाहिए[५]।

---

१. म.स्मृ. ६/५६, या.स्मृ. ३/५९
२. म.स्मृ. ६/५७
३. म.स्मृ. ४/४३-४४
४. मिता.,पृ. ४४४
५. म.स्मृ. ६/५३-५४, या.स्मृ. ३/६०

संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाले के लिए मानसिक स्तर पर आचरण करने का विधान भी निर्धारित था और पुराणकार इसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि संन्यासी को सर्वदा निर्द्वन्द्व रहना चाहिए। अहंकार और ममता से रहित होकर शम, दम, नियमादि का पालन करना चाहिए। संन्यासी को चाहिए कि वह काम का परित्याग कर दे, क्रोध से दूर रहे और मन में किसी प्रकार के विकार न आने दे[१]।

संन्यासी का यह कर्तव्य है कि आत्मा के अनामय नारायणदेव का चिन्तन करे। वह निर्द्वन्द्व, निर्मम, मायातीत, शान्त, अनामय, अमत्सर,सत्, चित्, आनन्द स्वरूप, परिपूर्ण, निर्मल, ज्ञानरूप, परम ज्योति, सनातन, विकार रहित, जगत् के चैतन्यकारण, निर्गुण परमब्रह्म के चिन्तन में लवलीन रहे[२]।

इस प्रकार के चिन्तन और ध्यान करने वाले संन्यासी के लिए यह कहा गया है कि वह सर्वदा वेदान्त का विचार करे, अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखे और दोष, दूषण से दूर रहे। जो भी ऐसा करता है, वह उस परम ज्योति में लीन हो जाता है[३]।

---

१. निर्द्वन्द्वो निरहंकारो निर्ममः सर्वदा भवेत्।
शमादि गुणसंयुक्तः कामक्रोधविवर्जितः।। ना.पु.(१),पृ. ४८५

२. आत्मानात्मानं चिन्तयेद् देव नारायणमनामयम्।
निर्द्वन्द्वं निर्ममः शान्तं मायातीतममात्सरम्।।
अव्ययं परिपूर्णं च सदानन्दैकविग्रहम्।
ज्ञानस्वरूपममलं ज्योतिः सनातनम्।।
अविकारमनाद्यन्तं जगच्चैतन्यकारणम्।
निर्गुणं परमं ध्यायेदात्मानं परतः परम्।। वही,पृ. ४८८

३. एवं ध्यानपरो यस्तु यतिर्विगतमत्सरः।
स याति परमानन्दं परं ज्योतिः सनातनम्।। वही, पृ. ४८८

संन्यासी के लिए भोजन की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्न करने का भी निषेध है। कहा यह गया है कि संन्यासी अजगर की तरह से निश्चेष्ट पड़ा रहे और जो कुछ भी उसे मिल जावे, उसे ही प्राप्त करके संतुष्ट हो जावे। यदि कुछ न मिले तो बिना कुछ प्राप्त किए ही पड़ा रहे। यदि उसे कोई भोजन मान सहित देता है तो उसे वह स्वीकार कर ले और यदि उसे भोजन अपमान जनक स्थिति में मिले तो भी उसे हर्ष और विषाद से दूर रहना चाहिए। उसके सोने के लिए कभी तिनके, पत्ते और पत्थर की शय्या भी मिल सकती है। वह क्षौम, दुकूल, मृगचर्म, चीर, वल्कल से ही अपने अंगों को ढंक लेता है। वह नित्य प्रति परमात्मा में प्रतिष्ठित होकर आध्यात्मिक सुख का अनुभव करता है[१]।

संन्यासी दण्ड और पात्र के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने पास न रखे। उसका दण्ड मन, वाणी और संयम का प्रतीक है। वाणी के लिए मौन, शरीर के लिए निश्चेष्ट स्थिति, मन के लिए प्राणायाम दण्ड है। वह भिक्षा के लिए पूर्व से घर निश्चित न करे और जो जहाँ से मिल जाए, उसे स्वीकार कर लेवे[२]।

---

१. अनीहा परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम्।
नो चेच्छये वहृहानि महाहिरिव सत्ववान्।।
क्वचिदल्पं क्वचिद् भूमि भुञ्जेऽन्नं स्वादुस्वादु वा।
क्वचिद् भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित्।।
श्रद्धयोपाहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्।
भुञजेभुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद् दिवा नस्तं यदृच्छया।।
आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृड्.मुनिः।
ततो निरीहो विरमेत् स्वानु भूत्यात्मस्थितः।। भा.पु.,पृ. ३७९-३८०

२. वही, ११/८/२५

संन्यासी की अवस्था एक योगी की अवस्था है, जो योग सिद्धि में रमता है और समाधि के माध्यम से परम साक्षात्कार का अनुभव करता हैं। श्रीमद्भागवत् पुराण में कुछ स्थितियाँ ऐसी कही गईं हैं जो योगी के लिए वर्जित हैं और योगी को उनसे बचना चाहिए। जैसे कि योगी को स्त्री के संग से बचना चाहिए। स्त्री उसके योग के लिए नरक का द्वार है[१]। इसीप्रकार से एक स्थान पर यह कहा गया है कि योग में सम्मान प्राप्ति का प्रयत्न न करे। कभी-कभी तो योगी ऐसा आचरण भी करते हैं जिससे उन्हें सम्मान न मिले। विष्णु पुराण में यह कहा गया है कि जो योगी अन्य पुरुषों से अपमानित होता है, वह शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इसी धारणा से कुछ योगी विपरीत आचरण करते थे जिससे वे असंमानित होते थे[२]।

योगी को कभी-कभी इस स्थिति में कष्ट भी भोगना पड़ता था। जब वह नग्न रहता था, जड़ स्वभाव वाले जैसा व्यवहार करता था, जब वह मौन रहकर दूसरे के लिए कौतूहल पैदा करता था। कभी-कभी उसे गाली खानी होती थी और मार भी सहनी पड़ती थी[३]।

---

१. संगं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमरुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य।।
यो प्रयाति शनैर्माया योषिद् देव विनिर्मिता।
तामीक्षातात्मनो मृत्युः तृणैः कूपमिवावृतम्।।भा.पु.,पृ. १७७

२. जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति। वि.पु.(१),पृ.३३६

३. भा.पु. ५/५

श्रीमद्भागवत पुराण में एक अन्य सन्दर्भ में संन्यासी के लिए शम,दम,दान,त्याग,तितिक्षा और क्षमा आदि के अनुपालन का भी विधान कहा गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि भगवान् में निष्ठित बुद्धि शम है, इन्द्रियों का संयम दम है, दु:खों को सहज भाव से सहन कर लेना तितिक्षा है। जिह्वा, उपस्थ के लौल्य पर विजय प्राप्त कर लेना विजय है। दण्ड धारण करना दान है। काम का त्याग करना परम तप कहा गया है। अपने सांसारिक स्वभाव पर विजय प्राप्त कर लेना शौर्य है और सभी के प्रति समदृष्टि रखना समदर्शन है। ऋत और सत्यवाणी का प्रयोग संन्यासी की परम उपलब्धि है। सभी प्रकार के कर्मों में असंग होना शौच है और संसार का त्याग ही संन्यास है[१]।

संन्यासी को नित्य ही आत्माभ्यास करते रहना चाहिए। आत्मा को अद्वितीय, अजर, आनन्दरूप, श्रेष्ठ ज्ञानरूपता जानकर उसमें ही स्वयम् का अधिष्ठान करना चाहिए[२]।

इसके साथ ही संन्यास धर्म में रहते हुए संन्यासी के लिए अनेक प्रकार के ऐसे आचरणों का कथन किया गया है, जिनसे उसका वाह्य और आन्तरिक भाव शुद्ध रहे।

---

१. शमो मन्निष्ठिता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयम:।
तितिक्षा दु:खसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयोधृति:।।
दण्डन्यास: परं दानं कामस्त्याग: तप: स्मृतम्।
स्वभावविजय: शौर्यं सत्यं च समदर्शनम्।।
ऋतं च सूनृता वाणी कविभि: परिकीर्तिता।
कर्मस्वसङ्गम: शौचं त्याग: संन्यास उच्यते।। भा.पु.,पृ. ७०५

२. तस्माद् ध्यानरतो नित्यं आत्मविद्यापरायण:।
ज्ञानं समभ्यसेद् ब्राह्मं येन मुच्येत बन्धनात्।।
मत्वा पृथक् स्वभावात्मानं सर्वस्मादेव केवलम्।
आनन्दमजरं ज्ञानं ध्यायीत च पुन: परम्।। कू.पु.,पृ. ३४९

## संन्यासियों के प्रकार

एक पुराणकार ने संन्यासाश्रम का नाम ब्रह्माश्रम दिया है। एक प्रकार के संन्यासी ज्ञान संन्यासी कहे जाते हैं, दूसरे प्रकार के संन्यासी वेद संन्यासी कहे जाते हैं, तीसरे प्रकार के संन्यासी कर्म संन्यासी कहे गए हैं। ज्ञान संन्यासी सर्वथा मुक्त, निर्द्वन्द्व और निर्भय होकर आत्मा में स्थित रहता है, वेद संन्यासी कामना और परिग्रह छोड़कर नित्य वेद का अभ्यास करता है। वह मोक्षेच्छु होता है, कर्म संन्यासी अपने को अग्नि में लीन कर स्वयम् ब्रह्म में लीन होता है[१]।

एक दूसरे सन्दर्भ में संन्यासियों के चार प्रकारों का संकेत भी किया गया है। ये चार हैं- कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस। इनमें से जो कुटीचक होते थे, वे घर में रहकर ही संन्यास धारण करते थे और शिखा-सूत्रधारी होते थे। वे अपने कुटुम्बी जनों और परिवार जनों से भिक्षा माँगकर खाते थे। सम्भवतः कुटी में रहने के कारण इन्हें कुटीचक कहा जाता था और इनकी कुटिया इनके पुत्रों के द्वारा ही बनाई हुई होती थी। बहूदक संन्यासियों के पास त्रिदण्ड, कमण्डलु, और काषायवस्त्र होते थे। वे केवल सात ब्राह्मणों के यहाँ भोजन मांगकर अपना निर्वाह करते थे। हंस संन्यासी एक ग्राम में एक रात्रि से अधिक निवास नहीं करते थे, वे गोमूत्र का सेवन करते थे तथा चान्द्रायण व्रत आदि भी करते थे। वे गुफा में, नदी के तट पर अथवा पेड़ के नीचे रहते थे। परमहंस संन्यासी सदैव खाली मकान में अथवा श्मशान में रहते थे। वे नंगे रहते थे अथवा वस्त्र भी धारण कर लेते थे। वे सभी वर्णों की भिक्षा स्वीकार कर लेते थे[२]।

---

१. प.पु. सृ.ख.,अ. ५९, कू.पु.,पृ. ३४६
२. ध.इ.,पृ. ४९५

## पौराणिक समाज संरचना

प्राचीन भारतीय समाज के चार प्रमुख साध्य थे। अर्थात् तब का समाज और समाज का सुबुद्ध वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील था। उसे इस संसार में इसी की प्राप्ति का लक्ष्य यथार्थ लक्ष्य के रूप में दिखाई देता था और सम्पूर्ण समाज इसी की प्राप्ति को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता था। इनमें भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म और मोक्ष की कुछ अधिक ही महत्ता थी, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि अर्थ और काम उपेक्ष्य थे। इसलिए इन्हीं की प्राप्ति की दृष्टि से और सामाजिक संरचना को एक विशेष आकार देने की दृष्टि से तब समाज को चार भागों में बाँटा गया था। वे भाग थे चार वर्ण और चार आश्रम। क्योंकि हमारी प्राचीन परिकल्पना यह थी कि सभी आत्मा के अंश होने के नाते से एक हैं, समान हैं और परस्पर एक दूसरे के अंग हैं किन्तु व्यावहारिक रूप से किस प्रकार समाज चले, इसके लिए यह आवश्यक था कि उसमें कोई एक व्यवस्था हो और उसे स्वीकार कर सभी लोग उसी का अनुपालन करते हुए अपना जीवन चलावें। यही दृष्टिकोण रखकर तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की परिकल्पना हुई थी। तथा उनके लिए पृथक्-पृथक् कार्य और व्यवहार का निर्धारण किया गया था और यह कहा गया था कि अपना-अपना कार्य करना ही धर्म है। इसीलिए कौटिल्य ने धर्म को दो रूपों में देखा और उसका निरूपण करते हुए उसे कर्तव्य रूप में और मानसिक गुणों के रूप में कहा। उन्होंने वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों को वैयक्तिक धर्म कहा तथा सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि को सार्वजनिक धर्म के रूप में निरूपित किया। यह समाज का तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में एक स्वरूप था और इसी के माध्यम से तब समाज का संचालन हुआ और दीर्घकाल तक समाज इस रूप में एकीभूत होकर व्यवस्थित ढंग से चलता रहा।

इसी प्रकार से तब यह विचार सर्वस्वीकार था कि मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है और इसे इसी जीवन में धंर्म, अर्थ, काम तथा मुक्ति की प्राप्ति करनी है। यदि इसमें कोई व्यवस्था नहीं होती तो वह कैसे अपने अल्प जीवन में इस प्रकार से कहे गए चारो अर्थों की प्राप्ति कर सकता। जीवन कम है अर्थात् मनुष्य काा जीवन केवल एक सौ वर्ष का है और प्राप्तियाँ अधिक हैं तब यह कैसे हो सकता है कि वह अपने अल्प जीवन में इन सबकी प्राप्ति कर सके।वे अपने जीवन को चार भागों में बांट लें और तब वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करें। यही दृष्टि थी, तब के सामाजिक संरचनाकारों की और इसी दृष्टि से तब समाज की संरचना की गई थी।

## समाज संरचना में आश्रमों की भूमिका

समाज में सभी सुख से रहें और सर्वसहमति का भाव रहे। यह लक्ष्य प्राचीन समाज के संरचनाकारों का सदा से रहा है। आश्रमों की संरचना और परिकल्पना का भी यही उद्देश्य प्रतीत होता है कि मनुष्य के अपने जीवन में अपने-अपने समय में जो प्राप्तव्य हैं, उसका सामर्थ्य प्रकट हो सके तथा उस सामर्थ्य  का उपयोग न केवल उसके जीवन के लिए हो अपितु उसकी प्राप्तियों का उपयोग समाज के लिए भी हो सके। ब्रह्मचर्य अवस्था का यही मूल्य है कि तब ब्रह्मचारी अपनी सम्पूर्ण शक्ति से ज्ञानार्जन करे और उस ज्ञानार्जन के काल में वह इतना अधिक नैतिक आचरणवाला हो जाए जिससे उसका उदाहरण लेकर पूरा समाज नैतिकता और ज्ञान के प्रकाश से आलोकित रहे। इस रूप में जहाँ एक ओर उस ब्रह्मचारी का जीवन पुष्ट होगा, वहीं सम्पूर्ण समाज को श्रेष्ठ युवक मिलेंगे और वे अपनी नैतिकता से तथा अपनी विद्या से समाज को भी दीप्त कर सकेंगे।

ऐसा ही कुछ रूप गृहस्थ का भी निरूपित किया गया है और उसके लिए भी यही कहा गया है कि वह केवल अपने लिए ही जीवन न जिए अपितु अपने श्रम से जो अर्जन करे उससे अपने परिवार का पालन-पोषण करता हुआ भी अपने द्वार पर आए हुए अतिथि का स्वागत करे और उसे यथोचित मान दे। गृहस्थ के लिए इसके अतिरिक्त यह विधान भी है कि वह न केवल मनुष्यों के लिए कुछ करता रहे अपितु पृथिवी के जो भी जीव-जन्तु हैं, उनके लिए भी निरन्तर ऐसा कुछ करता रहे जिससे वे भी अपना जीवन सुलभता से जी सकें। गृहस्थ के महत्त्व का तो अंकन यहाँ तक किया गया है कि यह आश्रम अन्य सभी आश्रमों से इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि अन्य तीन आश्रम इसी पर निर्भर हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी गृहस्थाश्रम पर निर्भर रहकर ही अपना जीवन जीते हैं[१]।

ऐसा ही विधान हम वानप्रस्थाश्रमवासियों के लिए भी देख सकते हैं। इस आश्रम में रहने वालों के लिए जिस आचार और व्यवहार का कथन किया गया है, उससे वानप्रस्थवासियों का जीवन तो सुखी और आनन्दित होता ही था, उनका परिवार भी विकास का पथ पाता था।

संन्यासाश्रम जीवन का परिपूर्णाश्रम है। इसमें संन्यासी के लिए ऐसे विधान हैं जिनसे वह अपने जीवन का परम निश्रेयस् पा सकता है। संन्यासी का तप न केवल उसके उत्कर्ष में सहायक होता था अपितु इससे समाज का उत्कर्ष भी होता था। इसलिए इन सब परिस्थितियों को देखकर हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारत में जिस प्रकार से आश्रम व्यवस्था का विधान किया गया था, उससे जहां एक ओर व्यक्ति के जीवन का उत्कर्ष होता था, वहीं सामाजिक रूप में इन आश्रमों से एक बड़ा व्यापक आयाम मिलता था और समाज महत्त्वशील बनता था।

## लौकिक तथा पारलौकिक जीवन में आश्रमों का महत्त्व

भारतीय परम्परा में लोक जीवन के साथ-साथ परलोक जीवन की मान्यता है। इस मान्यता का आधार पुनर्जन्म है, जिसमें यह माना जाता है कि प्रत्येक मनुष्य इस जन्म में जो करता है, उसी के अनुसार उसका दूसरा जन्म होता है। इसीलिए मनुष्य को न केवल वर्तमान जीवन में अच्छे रास्ते पर चलने का निर्देश होता है अपितु इसलिए उसे ऐसा करना होता है जिससे वह वर्तमान जीवन में ठीक रास्ते पर चलने से भविष्य का जीवन आनन्द से पा सके अथवा स्वर्गादि की प्राप्ति कर सुखी हो सके।

इस दृष्टि से यदि आश्रम जीवन को देखा जाए तो हम यह समझ सकते हैं कि आश्रमों के लिए जिस प्रकार के आचार-जीवन का विधान किया गया है, उससे जीवन में शुद्धता आती है, ज्ञान मिलता है, दान,धर्म पर चलने की प्रवृत्ति जगती है और मन तथा शरीर पुष्ट होता है। जैसे कि ब्रह्मचर्याश्रिम में ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ ब्रह्मचारी जब ज्ञान प्राप्त करता है तो वह ज्ञानी और पुष्ट बनता है। ज्ञान से उसका तेज वर्धित होता है और आचार्य सेवा से उसमें विनम्रता के भाव जगने के साथ-साथ श्रद्धा का भाव भी उदित होता है। ऐसा ब्रह्मचारी जब अपना अध्ययन पूराकर समाज में आता है तब वह पूर्ण और परिपुष्ट मनुष्य होता है। और अपने ज्ञान से तथा शारीरिक पुष्टता से न केवल अपने परिवार का पालन करता है अपितु समाज को भी अपने आचरण से आलोकित करता है। ब्रह्मचर्याश्रिम इस दृष्टि से उसके लोक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण आश्रम होता है।

गृहस्थ आश्रम का भी यही स्वरूप है। गृहस्थ के लिए जो धर्म कहे गए हैं उनके अनुसार जहाँ वह समाज में अतिथि सेवा करत हुआ सामाजिक सद्भाव का भागीदार बनता है। वही

वह अपने सामर्थ्य और पौरुष से अपनी संतति का पालन भी विधिवत् करने में सक्षम होता था।

वानप्रस्थाश्रम एक ऐसा आश्रम है जो पूरी तरह से व्यक्ति के लोक जीवन को पवित्र करने वाला आश्रम है और परलोक के जीवन की अपूर्व प्राप्ति का पथ देने वाला है। वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ व्यक्ति जहाँ संसार के माया-मोह के बन्धन से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न करता है, वहीं वह तप और स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर पाता है। इस रूप में उसका लोक जीवन तो पुनीत बनता ही है, पारलौकिक जीवन की शुचिता का भी आधार बनता है।

संन्यासाश्रम की परिकल्पना एक ऐसी परिकल्पना है जो सम्भवत: इस देश की अपनी कल्पना है। संन्यासी संसार के सभी राग और रागात्मक बन्धनों को जो केवल दुख के हेतु होते हैं, इसी जीवन में तोड़ने का प्रयत्न करता है और वह उस मुक्ति का आकांक्षी होता है जिससे जीव का जन्म-जन्मान्तर का आवागमन निरुद्ध हो जाता है और जिस अवस्था में जीव परमानन्द की अनुभूति करता है। यही संन्यासी के लोक जीवन की सार्थकता है ज़िससे वह संसार के राग और द्वेष से उपराम होकर आनन्द का अनुभव करता है और बाद में मुक्ति लाभ से पारमार्थिक जीवन की पूर्णता पाता है। यही आश्रम व्यवस्था का अवदान है जो मनुष्य जीवन के लिए वरेण्य रहा है और आज भी वरेण्य हो सकता है।
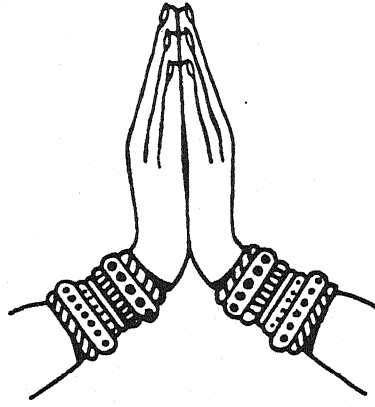
# पंचम अध्याय

## (वर्णाश्रम व्यवस्था का समेकित स्वरूप एवं निष्कर्ष)
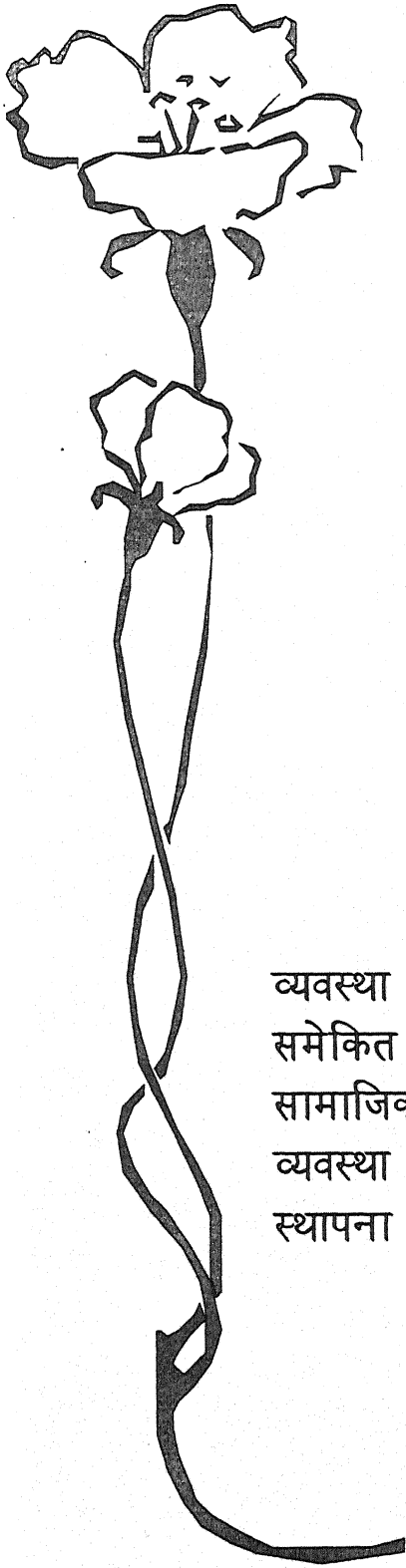
# पंचम अध्याय

## ( वर्णाश्रम व्यवस्था का समेकित स्वरूप एवं निष्कर्ष)

वर्णाश्रम की पूर्व स्थिति, पौराणिक वर्ण व्यवस्था का समेकित स्वरूप, आश्रम व्यवस्था का समेकित स्वरूप, वर्णाश्रम व्यवस्था का विकास, सामाजिक संगठन और वर्णाश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था और जातियाँ, वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनः स्थापना की सम्भावनाएँ, समीक्षा एवम् निष्कर्ष।

# पंचम अध्याय

## ( वर्णाश्रम व्यवस्था का समेकित स्वरूप एवं निष्कर्ष )

चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्मविभागशः-गीता की यह पंक्ति महाभारत कालीन समय का संकेत करती है, जो बहुत पूर्व का समय नहीं कहा जा सकता। वेदों में भी ऋग्वेद का वही उदाहरण अनेकशः दुहराया जाता है जिसमें प्राचीन समय में चार वर्णों की उत्पत्ति का संकेत है और जिसमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य उरुओं से और शूद्र पदों से उत्पन्न हुए है। ऋग्वेद के इस उद्धरण पर अनेक विद्वानों ने अपनी सहमति न देकर यह कहा है कि इस वेद में एक बार ही ऐसा हुआ है और इसलिए यह सम्भव है कि पुरुष सूक्त, जिसमें यह वर्णन है, बाद के समय में जोड़ दिया गया हो[२]। एक स्थान पर इसी प्रकार के विचार कुछ अन्तर के साथ और दिए गए हैं जिनमें यह कहा गया है कि प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, वक्ष स्थल एवम् बाहु से क्षत्रिय, देह के मध्य भाग से वैश्य और पदों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई[३]।

उपनिषद् इस सन्दर्भ में अधिक मुखरता और स्पष्टता के साथ वर्णों की सूचना देते हैं। सृष्टि की संरचना का जो क्रम वहाँ पर दिया गया है, उसके अनुसार ब्रह्म ने अकेले सभी कुछ न कर पाने के कारण क्रम से चारों वर्णों की उत्पत्ति की और इसी से सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन हुआ। इस रूप में हम इतना ही संकेत रूप में कहना संगत मान सकते हैं कि वर्ण व्यवस्था प्रारम्भिक काल में बहुत स्वष्टता के साथ सामने नहीं आई किन्तु बाद में धीरे-धीरे यह विकसित होती गई।

---

१. ऋक् १०/९०/१२
२. ध.इ., पृ. ११०
३. तै. सं. ७/१/१

इसी प्रकार से वेद और उपनिषद् आश्रमोंके सम्बन्ध में भी प्रारम्भ में बहुत स्पष्टता के साथ विचार नहीं करते और न ही इनका संकेत बहुत साफ-साफ शब्दों में करते हैं। जैसे कि वेदों में ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और गृहस्थ के लिए कहा गया कि वह सौभाग्य के लिए भार्या का ग्रहण करता है। इतना अवश्य है कि वहां पर जो कहा गया है उसका तात्पर्य अवश्य आश्रमों से ही हो होता है, जैसे कि यह कहा गया कि गृहस्थ के मूल में पति-पत्नी ही हैं, इसलिए पति और पत्नी को मिलकर रहना चाहिए[१]। इसी प्रकार से वानप्रस्थाश्रम के विषय में भी एक दूसरे शब्द का आश्रय लेकर ही इस आश्रम की कल्पना करनी होती है। यह शब्द है वैखानस अथवा मुनि। ये दोनों शब्द वानप्रस्थाश्रम का संकेत करते हैं। परिब्राजक वह है जो सभी कुछ देख सकते थे।

उपनिषद् इस संबंध में अधिक स्पष्ट हैं। इनमें अधिक स्पष्टता के साथ चारों आश्रमों का कथन किया गया है। क्योंकि आचार्य किसी युवक को ब्रह्मचर्य धारण करने के लिए कहता था, इसलिए वह ब्रह्मचारी होता था। उपनिषदों में अनेक ऐसे उपदेशकों का संकेत है जो गृहस्थ हैं और पत्नी सहित रहते हैं। धर्म के तीन स्कन्ध बताते समय तप की चर्चा करने का भी यही सन्दर्भ समझ में आता है कि जो तप करता था, वह तपस्वी वानप्रस्थाश्रमवासी ही हो सकता था[२]। और चतुर्थाश्रम में निवास करने वाला एषणाओं से मुक्त संन्यासी होता था[३]।

---

१. ऋक् १०/८५/२३
२. ई.द्वा.उ.,पृ.५८
३. बृह. ३/५/१

## पौराणिक वर्ण व्यवस्था का समेकित स्वरूप

पौराणिक वर्णों की स्थिति पर विचार करते समय इसकी स्थिति की जो कल्पना विद्वान् करते हैं, वह कुछ आश्चर्य कर सी है। जैसे एक विद्वान् ने यह कल्पना की है कि मनुष्य को अचानक ही मनुष्य की योनि और उसका वर्ण नहीं मिल जाता, अपितु मनुष्य योनि में आने के लिए ही उसे पहले बीस लाख बार स्थावर योनि, ग्यारह लाख बार कृमि योनि, उन्नीस लाख बार अण्डज योनि और चौंतीस लाख बार जरायुज योनि में जन्म लेना पड़ता है, तब बाद में वह मनुष्य का जन्म पा पाता है।

इसी तरह से मनुष्य अन्य योनियों में जन्म लेने वाले जीव से इसलिए भिन्न और विशेष है क्योंकि यह अपने विवेक से अपने जीवन का कार्य संचालित करता है, जबकि अन्य योनियों के जीव विवेकहीन होते हैं और उनके जो भी कार्य होते हैं, वे उनकी इन्द्रियों की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर होते हैं, उनमें विवेक होता ही नहीं है, इसलिए वे कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार न कर पाते हैं और न उनमें यह करने की शक्ति ही होती है। यही कारण है कि इस देश के आदि मनीषियों ने यह विचार किया कि मनुष्य जब अपना जीवन संचालित करे तो वह केवल इन्द्रियों के वशीभूत होकर ही कार्य न करे अपितु अपने विवेक का आधार ले और विवेक को मुख्य मानकर अपना कर्म करे। साथ ही उन्होंने यह भी विचार किया कि मनुष्य जो भी कार्य करे वह व्यक्ति, परिवार और समाज सापेक्ष भी हो। इसी दृष्टि से उन्होंने मनुष्यों के लिए कर्तव्यों और अकर्तव्यों का विधान किया और इसी से उन्होंने वर्णव्यवस्था के माध्यम से कर्तव्यों का विधान मनुष्य मात्र के लिए निर्धारित किया।

पुराणकारों ने भी सम्भवत: इसी भाव के अनुरूप जब आदि कालिक वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया तो उन्होंने चारों वर्णों की कल्पना उसी तरह से की जैसे पूर्व में की थी। और फिर यह कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार ही वर्ण हैं। इनमें से ब्राह्मण अध्ययन- अध्यापन, यजन-याजन, दान लेने और दान देने जैसे कर्म कर अपना जीवन निर्वाह करता है। क्षत्रिय यद्यपि अध्ययन और दान देने तथा यज्ञ करने जैसे कर्म से तो जुड़ा ही रहता है किन्तु उसका जो कर्म है, वह है प्रजा की रक्षा के लिए स्वयम् को तत्पर रखना। क्योंकि उसकी उत्पत्ति का स्थान भगवान् की भुजाएँ हैं और भुजाएँ तभी शोभित होती हैं जब रक्षा करती हैं। इसलिए क्षत्रिय की शोभा और उसका कर्म तभी सार्थक है, जब वह प्रजा की रक्षा में तत्पर है। सम्भवत: वेद में जो उसे राजन्य कहा गया है, उसका भी संकेत यही है कि वह राजा की भाँति रक्षा का काम करे और प्रतिष्ठित होवे। इसी प्रकार से वैश्यों के लिए जिन कर्मों की कल्पना की गई और यह अपेक्षा की गई कि वह अपने लिए निर्धारित कर्म करेगा, उसका भी यही अभिप्राय था कि वैश्य अपने लिए निर्धारित सभी कर्म करता हुआ भी कृषि और वाणिज्य के माध्यम से जहाँ अपने परिवार का पालन करेगा, वहीं वह समाज के लिए भी आर्थिक साधन तैयार करेगा। और शूद्र सेवा के द्वारा सम्पूर्ण कार्यों को सम्पादित कर अपने कर्तव्यों का निर्वाह करेगा। यही दृष्टिकोण प्राचीन समाज में वर्ण व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ और इसी दृष्टिकोण का यह फल हुआ कि वर्णों के कर्तव्यों को धर्मरूप में कहा गया।

एक पुराण में यह अभिमत दिया गया हैं कि जो त्रिवर्ण हैं अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इनका वैदिक आचार से सम्बन्ध हैं और यदि ये अपने-अपने लिए निर्धारित वर्ण-कर्म करें तो ये इसी माध्यम से अपने जीवन का श्रेय पा सकते हैं। श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित कर्म का अनुष्ठान करने वाले ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं। वर्ण धर्म का पालन जिन मुनियों ने प्राचीन काल में किया था, वे सायुज्य मुक्ति को प्राप्त हुए थे।

वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करते हुए श्रीमद् भागवत महापुराण भी यही कहता है कि चार वर्ण ही हैं और उनका आचार उनके लिए स्वभावगत धर्म है। प्रत्येक युग में जिन-जिन वर्णों की कल्पना हुई हैं और उनके लिए जिन कर्मों का कथन किया गया है, उनसे वैदिक ऋषियों ने अपने धर्म का पालन करने वालों के लिए इस लोक और परलोक में सुख की कामना की है[२]।

पौराणिक वर्ण व्यवस्था यद्यपि जन्मना स्वीकार की गई है किन्तु हम यह भी देख सकते हैं कि वहाँ पर कर्म का बहुत अधिक महत्त्व है। इतना ही नहीं वर्णों में श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मण का महत्त्व इसलिए नहीं है कि वह वर्ण से ब्राह्मण है, अपितु उसका महत्त्व इसलिए है क्योंकि वह श्रुतिशील और आचरण वाला है। यदि ब्राह्मण श्रुति से विमुख है और उसके आचरण भी हीन हैं तो वह श्रेष्ठ ब्राह्मण के रूप में पुराणों में मान्य नहीं है। ब्राह्मण शम, दम, तप, शौच और संतोष जैसे श्रेष्ठ भावों से युक्त होवे[३]।

---

१. सं.शि.पु.,पृ. ५३५
२. भा.म.पु.,पृ. ३७७
३. वही, ५७६

प्राचीन वर्ण व्यवस्था यद्यपि जन्म पर आधारित थी और पुराणों में भी लगभग उसी तरह से स्वीकृत है किन्तु यह व्यवस्था पूरी तरह से अपरिवर्तनीय थी- ऐसा नहीं है। कर्म के आधार पर प्राचीन समय में भी वर्ण परिवर्तन जिस प्रकार से सम्भव था, उसी तरह से पुराण काल में भी वर्ण परिवर्तन सम्भव था। महर्षि विश्वामित्र और मनु तथा नहुष के वंशजों के कथानक पुराणकार स्पष्ट रूप से लिखते हैं और वहाँ पर यह भी स्पष्ट करते हैं कि ये सभी क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे किन्तु इनमें महर्षि विश्वामित्र को ब्राह्मण का मान मिला। इसी तरह से मनु और नहुष के वंशजों में अनेक ब्राह्मणों के होने की बात स्पष्ट रूप से कही गई है। एक और सन्दर्भ ऐसा है जहाँ एक राजा वैश्य कुलोद्भव था किन्तु उसके दो पुत्र ब्राह्मण हुए थे[१]।

विष्णु पुराण में 'क्षत्रोपेत' ब्राह्मणों के लिए किया गया संकेत है। इस संकेत से यह कहा गया है कि आंगिरस, शौनक, काण्वायन और मौदगल्य ब्राह्मण वंशों की उत्पत्ति क्षत्रिय राजाओं से हुई थी। पृषध्र नामक एक ब्राह्मण अपने जघन्य कर्म से शूद्र हो गया था। उसने किसी हेतु से अपने गुरु का वध कर दिया था, इसलिए उसे शूद्र कहा गया और वह ब्राह्मण पद से च्युत हो गया[२]। इस प्रकार से पुराणकालिक समाज गतिशील समाज था और उस समय के समाज में विवेक हीन होकर कोई व्यवस्था स्वीकार नहीं थी।

---

१. म.भा. अनु. ४/४८; हरिवंश ११/६५८
२. वि.पु. ४/१९/१०; ४/१/१४

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि समाज व्यवस्थित बना रहे और एक निश्चित व्यवस्था के अधीन सभी अपने-अपने कर्म को धर्म मानकर उसका पालन करते रहें-इसी भाव से वर्ण व्यवस्था के आधार पर ही, यदि कही किसी की ज्येष्ठता और कनिष्ठता कहीं गई थी, तो वह छोटे और बड़े समाज में अपने-अपने स्थान पर अपना अपना कर्म करते हुए समान थे और जो अपना कर्म विधिपूर्वक नहीं करता था वह न केवल अपने वर्ण से च्युत हो जाता था अपितु समाज में भी निन्दा का पात्र बनता था।

पौराणिक वर्ण व्यवस्था में एक तथ्य और स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक वर्ण जो भी कर्तव्य करता है, वे सभी उसके हित सम्पादन के साथ-साथ समाज के उन्नयन में भी सहायक हैं। जैसे ब्राह्मण के कर्तव्य, यज्ञ कराना और अध्ययन कराना। क्षत्रिय के लिए समाज की सुरक्षा करना। वैश्य के लिए कृषि और व्यापार द्वारा समाज को सम्पन्न बनाना और शूद्र के द्वारा समाज के सभी कार्यों में सहयोग करना।

इसलिए हम कह सकते हैं कि तब की वर्ण व्यवस्था और इसके द्वारा निर्धारित कर्तव्य वैयक्तिक और सामाजिक हित-सम्पादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे और इसीलिए तब के समाज में निरूपित वर्ण व्यवस्था सामजिक दृष्टि से न केवल स्वीकार्य थी, अपितु वह श्रेष्ठ व्यवस्था भी थी।

## आश्रम व्यवस्था का समेकित स्वरूप

आङ्॰ उपसर्ग पूर्वक श्रम धातु से निष्पन्न जिस आश्रम शब्द के अर्थ पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं उसके अनुसार प्रारम्भ से ही आश्रम शब्द का अभिप्राय यह रहा है कि जहाँ मनुष्य अपने कर्तव्यों का निर्वहन करता हुआ पूर्ण रूप से विश्राम करता है, वे आश्रम हैं। एक यह भी सन्दर्भ दिया गया है कि जिस स्थिति में व्यक्ति अपने कर्तव्यों के निर्वाह में प्रवृत्त होकर पूर्ण श्रम करता है, वे आश्रम हैं।

जहाँ तक वेद वाङ्मय में आश्रमों की व्यवस्था का प्रश्न है, वहाँ पर यह दिखाई देता है कि प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के लिए तो पर्याप्त संकेत थे किन्तु वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम के स्पष्ट संकेत नहीं थे। कुछ मिलते-जुलते शब्दों को लेकर ही यह कहा गया है कि प्रारम्भ में ही चारों आश्रमों की परिकल्पना हो चुकी थी। जैसे कि आचार्य ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता था। इस सन्दर्भ में यह माना गया कि तब ब्रह्मचर्याश्रम परिकल्पित हो गया था, तभी ब्रह्मचारी की कल्पना हुई और ब्रह्मचारी से यह अपेक्षा की गई कि वह ब्रह्मचर्य का पालन करें। अथवा यह मान लिया गया कि जो गुरु की आज्ञा से अन्तेवासी बना है और जिसने ब्रह्मचर्याश्रम स्वीकार किया है, वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ इसे अपना कर्तव्य मानकर चले। ब्रह्मचारी के जीवन का कर्तव्य है कि वह गुरु की आज्ञा माने और जो नियम तथा व्रत ब्रह्मचर्याश्रम के लिए कहे गए हैं, उनका पालन करे और कठोरता पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करे। इसी से यह कहा गया कि तब ब्रह्मचर्याश्रम अस्तित्व में था।

इसी प्रकार से जब यह कहा गया कि वेदवाङ्मय में संन्यासाश्रम भी अपने प्रारम्भिक रूप में परिकल्पित हो गया था तो उसका सन्दर्भ ऋग्वेद में आए हुए उस मुनि शब्द के सन्दर्भ से जोड़ा गया, जिसमें यह कहा गया है कि मुनि देवों के मित्र होते हैं[१]। मुनि यद्यपि एक जीवन-रूप है किन्तु उनके जीवन का लक्ष्य जानकर यही माना जाना चाहिए कि इनका कार्य और उद्देश्य संन्यासी जैसा ही रहा होगा, इसलिए यह संन्यासाश्रम का प्रारम्भ हो सकता है।

जहाँ तक औपनिषदिक परम्परा का प्रश्न है तो वहाँ पर अवश्य ही ऐसे स्पष्ट संकेत हैं जिनसे यह कहा गया है कि तब चारों आश्रमों की अवस्थिति का स्वरूप स्पष्ट हो गया था। कम से कम एक उपनिषद् का ऐसा सन्दर्भ तो है ही जो स्पष्ट रूप से न केवल किसी एक आश्रम का संकेत करता है और न चारों आश्रमों का वर्णन करता है अपितु वहां पर यह भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्याश्रम को परिसम्पन्न करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। इसी प्रकार से गृहस्थाश्रम के पश्चात् वन में निवास के लिए जाना चाहिए अर्थात् अरण्यवासी होकर वानप्रस्थाश्रम में रहना चाहिए। और इसके बाद वानप्रस्थ के कर्तव्यों का तथा समय का पालन करके तब प्रव्रज्या ग्रहण करनी चाहिए। प्रव्रज्या ही संन्यास है और प्रव्रज्या में रहकर संसार का त्याग तथा मोक्ष की कामना संन्यासाश्रम है[२]।

---

१. ऋक् १०/१३६/४
२. जावा., ४

इसी प्रकार से यदि हम यह देखना चाहें कि प्राचीन समय में इन चारों आश्रमों के लिए किस प्रकार कर्तव्यों का विधान किया गया था, तो हम देख सकेंगे कि तब इन आश्रमों के लिए कर्तव्य रूप धर्मों का कथन भी बहुत स्पष्टता के साथ नहीं किया गया था। उपनिषदों में जो संकेत हैं तदनुरूप यह कह सकते हैं कि तब ब्रह्मचारी के लिए गुरु सेवा, ब्रह्मचर्य का पालन करना, श्रद्धा युक्त होना और आश्रम के कार्यों का सम्पादित करना निर्धारित था। इसी प्रकार से गृहस्थ के लिए यह कहा गया था कि वह सौभाग्य की रक्षा के लिए स्त्री का हाथ ग्रहण करे और गृहस्थ धर्म स्वीकार करे। वह कृषि कार्य करे, स्वयम् द्वारा अर्जित धन का उपभोग करे और द्यूतादि के दुष्कर्मों से दूर रहे[१]।

वानप्रस्थाश्रम का अर्थ ही वन में प्रस्थ (प्रयाण) कर जाना है इसलिए जो वन में उपलब्ध है, उसी से अपना जीवन चलाना वानप्रस्थाश्रम का धर्म है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, स्वाध्याय में रत रहते हुए जीवन को संचालित करने के लिए जो अनिवार्य है, उतना प्राप्त करके संतुष्ट रहते हुए जीना है; यही वानप्रस्थ आश्रम के कर्तव्य हैं।

संन्यासी का तो जीवन ही मुक्ति के लिए है उसका तो लक्ष्य ही मुमुक्ष अर्थात् मोक्ष की कामना रखने वाला है, इसलिए उसके लिए कोई विशेष कर्तव्य अथवा कर्तव्य रूप धर्म निर्धारित ही नहीं किया जा सकता है। उसका तो एक मात्र कर्तव्य है संसार के अनुराग का त्याग और अहर्निशि मुक्ति की कामना।

---

१. ऋक् १०/३४/१३

पुराण परम्परा आश्रमों के संबंध में अपना अभिमत स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है। इस परम्परा में वेदों और स्मृतियों के विधानों को यथावत ग्रहण करते हुए उन्हें स्पष्ट रूप से कहा गया है और स्पष्ट रूप से चारों आश्रमों का कथन किया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का निर्देश सभी पुराणों में लगभग एक जैसा है। अर्थात् इन चारों आश्रमों का उल्लेख सभी पुराणों में किया गया है। पुराणों के पूर्व स्मृतियों में चारों आश्रमों की चर्चा करते हुए यह कहा गया था कि भिक्षा मांगना, गुरु की सेवा करना, स्वाध्याय करना और अग्नि के कार्य सम्पादित करना ब्रह्मचारी के कर्तव्य हैं। अग्नि की उपासना, अतिथि सेवा, यज्ञ, दान, स्वाध्यायादि गृहस्थ के कर्तव्य हैं। कन्द मूल और फलों का सेवन करना, स्वाध्याय और तप वानप्रस्थियों के कर्तव्य हैं। भिक्षा से प्राप्त पदार्थों का सेवन, मौनव्रत, तप और ध्यानादि संन्यासियों के कर्तव्य हैं।

पुराणकारों ने जब इस प्रकार से चारों वर्णों का कथन किया है तो उन्होंने इन वर्णों के कर्तव्यों का उल्लेख भी सम्पूर्णता के साथ किया है। पुराणकार ब्रह्मचारी के लिए लिखते हैं कि वह अपने समय में संयम का पालन करे, गुरु की सेवा में महत्त्वपूर्ण ढंग से सम्पादित करे। मेखला, अजिन, दण्ड, अक्षसूत्र, कमण्डलु धारण करे। उसके लिए नाखून काटना वर्जित है और केशों का कर्तन कराना भी निषिद्ध है। वह अग्निकार्य में निरत रहे और समय-समय पर सन्ध्यावन्दनादि के कार्य करता रहे। प्रातः और सायं सन्ध्यावन्दन करने के पश्चात् भिक्षाचरण करे और आचार्य को निवेदित करे।

---

१.

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी त्यागी और तपस्वी बन कर रहे, इसलिए पुराणकार भी यही कहते थे कि वह आचार-व्यवहार से सुशील हो, उसका अपनी इन्द्रियों पर पूर्णाधिकार हो अर्थात् वह इन्द्रियजयी हो। कभी भी स्त्री के सम्पर्क में न आवे अर्थात् स्त्री के साथ की कभी भी कामना न करे। केशादि प्रसाधन भी वह न करे और ब्रह्मचर्य व्रत का सदैव पालन करता रहे[१]।

गृहस्थ यद्यपि अपने सुखोपभोग के लिए गृहस्थाश्रम स्वीकार करता था किन्तु तब के समय में पुराणों में उसके लिए भी कर्तव्य रूप धर्म के कथनों का सन्दर्भ प्राप्त है। इसीलिए यह कहा गया है कि वह आचार्य से अनुमति प्राप्त करने के बाद पत्नी का चयन करके गृहस्थाश्रमी हो जाए किन्तु पितरों को पिण्ड दानादि देने के कर्तव्य का विस्मरण कभी न करे। इसी तरह से कभी भी गृहस्थ यज्ञादि कर्म से विमुख न हो क्योंकि यज्ञों से देवता प्रसन्न होते हैं। गृहस्थ अन्न दानादि के द्वारा अतिथि की सेवा करता रहे और ऋषियों को स्वाध्याय से, प्रजापति को पुत्रोत्पादन से, भूतों को बलि से और सम्पूर्ण विश्व को वात्सल्यभाव से संतुष्ट करे।

गृहस्थ केवल स्वयम् के सुख-साधन में लिप्त रहे और समाज से उपेक्षित हो जाए-यह उचित नहीं माना जाता है। इसीलिए पुराण गृहस्थ के दो भेद कहते हैं जिसमें एक भेद साधक गृहस्थ उसे कहा गया है जो केवल अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करता है तथा समाज की ओर जिसका ध्यान नहीं होता। इसकी अपेक्षा में उदासीन गृहस्थ वह है जिसके मन में मोक्ष की इच्छा होती है अर्थात् जो अपने जीवन में मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा रखता है और इसके लिए वह देवऋण, पितृऋण तथा ऋषिऋण से उऋण होकर अन्ततः स्त्री तथा धन का परित्याग कर देता है[२]।

---

१. भा.पु., पृ.३७७

२. कू.पु. २/७६-७७

यही नहीं पुराणों का यही वैशिष्ट्य है और इसीलिए पुराण हमारे समाज में प्रतिष्ठित हैं क्योंकि इनके माध्यम से समाज में संस्कार भी प्रदान किए जाते रहे हैं। यही कारण है कि गृहस्थों के लिए अन्य कर्तव्यों के साथ-साथ यह भी कहा गया है कि वे सत्य बोलें, क्रोध पर विजय प्राप्त करें, लोभ तथा मोह से शून्य होवें, श्राद्ध करने वाले होवें। माता-पिता,गौ, ब्राह्मणों का हित सम्पादन करें और जितेन्द्रिय हों। वे निरन्तर देवताओं के पूजन में भी निरत रहें। श्रीमद्‌भागवत में तो यह कहा गया है कि गृहस्थ को कुटुम्ब में अधिक आशक्ति नहीं रखनी चाहिए। उसे पुत्र, पत्नी, भ्राता को इस भाँति मानना चाहिए जैसे कि कोई धर्मशाला में मिलता है और बाद में बिछड़ जाता है। जब वह अपने परिवार के प्रति इस प्रकार के भाव रखता है तो फिर वह परिवार और संसार से विरक्त हो जाता है और निरासक्त होकर मुक्ति का अधिकारी बनता है।

पुराणों में जब इस प्रश्न पर विचार किया गया कि सभी आश्रमों में श्रेष्ठ आश्रम कौन है तो इसका उत्तर देते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि गृहस्थाश्रम ही सभी आश्रमों में सर्वश्रेष्ठ है। इसका कारण प्रतिपादित करते हुए एक पुराण में यह कहा गया है कि भिक्षावृत्ति पर निर्भर रहने वाले परिव्राजकों और ब्रह्मचारियों के लिए यही गृहस्थाश्रम ही परम आश्रय है। इसी आश्रयत्व के कारण यह आश्रम श्रेष्ठ आश्रम कहा जा सकता है क्योंकि जो दूसरों को आश्रय देता है, वही श्रेष्ठ होता है। वहाँ पर यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण वेदाध्ययन के निमित्त, तीर्थाटन के निमित्त और देवदर्शन के निमित्त पृथिवी पर भ्रमण करते रहते हैं, और जिनका कोई घर नहीं होता है तथा जिनके भोजनादि की व्यवस्था नहीं होती है, वे विश्रामादि तथा भोजनादि के लिए इन्हीं गृहस्थाश्रम वासियों के यहाँ ही ठहरते हैं। इसलिए यह आश्रम श्रेष्ठ आश्रम के रूप में मान्य है।

पुराणकारों ने इसी प्रकार से वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम के सम्बन्ध में अभिमत व्यक्त किया है और इनके कर्तव्यों का भी कथन किया है। जैसे कि वानप्रस्थ के लिए यह कहा गया है कि वह सपत्नीक अथवा अपत्नीक वन में निवास करने के लिए जावें। यह वे इसलिए करें जिससे उनकी आत्मशुद्धि हो जाये। आत्मशुद्धि के लिए ही वानप्रस्थाश्रम है।

वानप्रस्थाश्रम के लिए दैनिक कर्म विधान का वर्णन तो पुराणों में है ही और वहां पर यह कहा गया है कि वह वन में प्राप्त होने वाले कन्द, मूल,फल आदि को प्राप्त करके अपने जीवन का निर्वाह करे। उसके लिए यह विधान है कि वह नित्य अग्नि में हवन करे तथा मुनियों के उपयोग में लाए जाने वाले अन्न से पञ्चमहायज्ञ सम्पन्न करे। वसन्त और शरत् काल में प्राप्त होने वाले अन्न का पुरोडाश बनावे तथा उसे पितरों और देवताओं को अर्पित करे। मधु, मांस आदि का वर्जन करे तथा जो अन्न कृषि कर्म के द्वारा प्राप्त हुआ हो, उसे भी वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने वाला ग्रहण न करे। स्वाध्यायरूप कर्तव्य का पालन दृढ़ता से करता रहे।

संन्यासाश्रम विरक्ति का आश्रम है। इसलिए पुराणकार भी वही कहते हैं जो पूर्व की परम्परा में कहा जाता रहा है। श्रीमद्भागवत पुराण में यही कहा गया है कि जब व्यक्ति सभी प्रकार से विरक्त हो जाए और किसी भी प्रकार का धर्म और कर्म उसे बाधित न करे तब वह स्वयम् को अग्नियों में आरोपित करके संन्यासी बन जावे। उस स्थिति में वह न किसी की माया में लिप्त होवे और न किसी प्रकार के बन्धन का अनुभव करे। इसीलिए ऐसे संन्यासी के लिए किसी भी प्रकार के कर्म और कर्म का बन्धन नहीं बनाया गया है और उसके लिए यही सबसे बड़ा कर्म और धर्म कहा गया है कि वह निरपेक्ष भाव से अपने लक्ष्य अर्थात् मुक्ति की ओर बढ़े।

---

१. भा.पु., पृ.३७७
२. कू.पु. २/७६-७७

## वर्णाश्रम व्यवस्था का विकास

सृष्टि के विकास के इतिहास के साथ ही साथ सामाजिक संस्थाओं का इतिहास जुड़ा हुआ है। जबसे मनुष्य ने थोड़ा साभी बौद्धिक चेतना का अनुभव किया होगा, तभी से उसने यह चाहा होगा कि पृथक्-पृथक् विचारों से प्रेरित होकर अपना जीवन चलाने वालों के बीच कोई ऐसी व्यवस्था हो जो सभी को संगठित रख सके और सभी के लिए एक सामाजिक स्वरूप की व्यवस्थापिका भी बन सके। सम्भवतः इसी विचार से प्रेरित होकर आदिकाल में अर्थात् वेदकाल में सामाजिक संगठन के लिए वर्ण व्यवस्था की कल्पना हुई और प्रारम्भ में यह कल्पना बहुत स्पष्ट न होकर उत्तरोत्तर विकसित होती गई। इसीलिए वेदों में अस्पष्ट और उपनिषदों में कुछ स्पष्ट रूप से वर्ण व्यवस्था दिखाई देती है। बाद के काल में और विशेषकर पुराणों के काल में वर्णव्यवस्था का स्वरूप पूरी तरह से स्पष्ट हुआ और इसी के माध्यम से कर्तव्य रूप धर्मों का कथन हुआ। इससे निश्चय ही इस व्यवस्था के रूप में एक ऐसा सामाजिक संगठन बना जिसके आधार पर एक बड़े काल खण्ड में यह व्यवस्था प्रभावी रही।

इसी तरह से मनुष्य के जीवन को दिशा देने की दृष्टि से तथा इस जीवन के उद्देश्य को निश्चित करने की दृष्टि से प्रारम्भ से ही यद्यपि आश्रम व्यवस्था की कल्पना ऋषियों के मन में थी किन्तु धीरे-धीरे ही इसने भी आकार ग्रहण किया और पुराणकाल तक आते-आते यह भी स्पष्ट हो गई। इस रूप में इस व्यवस्था के माध्यम से भी यह चाहा गया

कि व्यक्ति का जीवन सोद्देश्य हो और वह जो कुछ भी अपने जीवन में करे उससे उसकी सार्थकता सिद्ध हो सके। आश्रम व्यवस्था इसमें सफल हुई और इस व्यवस्था ने भी इस देश के एक बहुत काल खण्ड को प्रभावित किया, जिसमें यह लागू रही और व्यक्ति सुख तथा शान्ति की प्राप्ति करता रहा।

## सामाजिक संगठन और वर्णाश्रम व्यवस्था

व्यक्ति का यह मूल स्वभाव होता है कि वह एकाकी न रहकर समूह में रहना अधिक अनुकूल मानता है। प्रारम्भ में भी, जब किसी प्रकार का सामाजिक संगठन नहीं बना होगा और न इसकी परिकल्पना हो सकी होगी, तब व्यक्ति ने समूहबद्ध होकर रहना प्रारम्भ किया होगा। धीरे-धीरे उसे ऐसा अनुभव हुआ होगा और उसे ऐसी आवश्यकता हुई होगी, जिसमें सभी के लिए एक व्यवस्था हो और उस व्यवस्था से आबद्ध होकर सभी अपने-अपने कार्य करें तथा कोई ऐसी स्थिति न हो जिसमें परस्पर विग्रह की सम्भावना होवे। और इसी भाव तथा आवश्यकता से वर्ण व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ होगा। कौन किस परिवार और माता-पिता से जन्मा है और कौन किस प्रकृति का है तथा किसने कौन सा कार्य करना प्रारम्भ किया है, इन सभी कारकों पर विचार करके ही वर्णों का गठन किया गया होगा। यह स्वाभाविक रूप से देखा गया होगा कि जिसकी प्रकृति ज्ञानार्जन और तप-त्याग की रही होगी तथा जो सृष्टि के परिवर्तनशील स्वभाव से आश्चर्यान्वित होकर इसमें किसी अपरिवर्तनीय तत्त्व को खोजने की जिज्ञासा रखता होगा, वह ब्राह्मण की प्रवृत्ति होने के कारण ब्राह्मण कहा गया होगा और फिर उसकी उत्पत्ति का मूल भी विचारणीय रहा होगा ऐसी प्रवृत्ति और

और विचार से ही ब्राह्मण वर्ण का प्रारम्भ हुआ होगा। इसी तरह से क्षत्र का जो रक्षात्मक अर्थ निकलता है उसमें भी उसकी प्रकृति का महत्त्वपूर्ण विचार किया गया होगा। पालन करने की प्रकृति वाला वैश्य और समाज के शेष कर्मों का सम्पादक शूद्र हुआ होगा। धीरे-धीरे इन सभी की पूर्ण व्यवस्था हुई और समाज का एक ऐसा ढाँचा खड़ा हो गया, जिसे वर्ण व्यवस्था कहा गया और जिसमें आबद्ध होकर समाज संगठित हो सका तथा जिसके माध्यम से सभी को अपने-अपने कर्म संपादित करने का अवसर भी मिला।

यही स्थिति आश्रम व्यवस्था के संबंध में भी देखी जा सकती है। प्राचीन समय से ही हमारे पूर्वजों, जिन्हें हम मन्त्र दृष्टा ऋषि कहते हैं, मनुष्य के जीवन का उद्देश्य प्रारम्भ से ही जानना चाहते थे। वे यह समझना चाहते थे कि व्यक्ति का जन्म लेना और आकस्मिक रूप से शरीर के त्याग का अभिप्राय क्या है, क्या सभी का उद्देश्य केवल यही है कि जन्म लेना, किसी प्रकार से अपना पालन-पोषण करना और मृत्यु पा लेना ही हमारा लक्ष्य है। निश्चित रूप से इतना ही लक्ष्य मनुष्य का नहीं हो सकता। इसलिए प्रारम्भ से ही मनुष्य के जीवन के लक्ष्य का विचार किया गया और भारतीय सन्दर्भ में यह कहा गया है कि परम निवृत्ति अर्थात् मुक्ति ही मनुष्य का परम लक्ष्य है और उसे ही पाना है किन्तु संसार का पूर्ण परित्याग भी नहीं कर देना है। इसलिए जीवन के प्रारम्भ में अध्ययन करना, गृहस्थ होकर सांसारिक क्रम को यथावत चलाना और फिर संसार के पूर्ण त्याग के अभ्यास के लिए वानप्रस्थ बनना और बाद में संन्यासी हो जाने का विधान किया गया। यही विचार और व्यवहार का दृष्टिकोण

चारों आश्रमों के मूल में रहा है और इसी से बाद में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी के रूप में चार आश्रम ग्रथित हुए।

अब यदि विचार किया जाए कि वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था की सामाजिक संगठन में क्या भूमिका थी, तो हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों व्यवस्थाओं से ही सामाजिक संगठन का प्राचीन ढाँचा दृढ़ता के साथ हजारों वर्षों तक खड़ा रहा। क्योंकि वर्णव्यवस्था के माध्यम से और आश्रम व्यवस्था के माध्यम से सभी के लिए अपने-अपने कर्तव्यों का निर्देश किया गया था और यह विधान किया गया था कि सभी अपने-अपने कर्तव्यों का पालन विना किसी भय से करेंगे, और यही उनका धर्म होगा। इसलिए वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था के अनुपालन में न तो राजा की कोई आज्ञा काम करती थी और न उसके भय का ही कहीं पर अधिकार दिखाई देता था। आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि राजा स्वयम् अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करे और यह देखे कि प्रजा भी इसका पालन करती रहे। जो प्रजा और राजा अपने-अपने वर्ण और अपने-अपने आश्रमधर्म का पालन करते हैं, वे सदा सुख का अनुभव करते हैं[१]।

इस रूप में यह कहना संगत होगा कि वर्णाश्रम व्यवस्था से तब का प्राचीन समाज सुसंगठित रहता था और कोई भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता था। वर्णाश्रम के कर्तव्यों का कथन धर्मरूप में किए जाने से जहां सभी लोग अपने अपने कर्तव्यों का पालन विधिपूर्वक करते थे, वहीं समाज को धर्म की एक ऐसी परिभाषा भी मिली थी जो कर्तव्य रूप में असावधान होता जा रहा है। प्राचीन वर्णाश्रमों की स्थिति से बहुत कुछ सीख सकता है।

---

१. कौ. अ.,पृ. १४

वर्णाश्रम व्यवस्था पर विचार करने वाले अनेक विद्वानों ने यह मत दिया है कि प्रारम्भ से ही जातियों का संकेत वैदिक काल में मिलता है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का यह मत है कि वर्ण व्यवस्था का गठन होने के पूर्व अर्थात् चारों वर्णों की स्थापना होने के पूर्व ही समाज में जो व्यवस्था थी, उसमें प्रारम्भ में केवल आर्य और दास ही थे। कालान्तर में आर्यों के जो विरोधी थे और उनसे शत्रुता रखते थे वे पराजित हो गए और वे ही शूद्र कहे गए[१]।

प्राचीन सन्दर्भों में जिन कुछ जातियों के नाम मिलते हैं और जिनसे यह कहा जा सकता है कि इन जातियों का नाम करण उनके काम के आधार पर सम्भवतः किया गया होगा, उनमें वप्ता,[२] त्वष्टा,[३] भिषक्,[४] कर्मार,[५] चर्मम्न[६] तथा सूत[७] आदि की गणना की जा सकती है। इनमें से चर्मम्न और भिषक् का नाम तो स्पष्टता के साथ संकेत करता है कि इनके नाम इनके कर्म के आधार पर रखे गए होंगे।

इसके अतिरिक्त भी रथकार, मागध आदि जातियों का उल्लेख प्राचीन समय में हुआ है[८]।

प्रो. पी.वी. काणे महोदय ने ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तरीय संहिता, वाजसनेयी संहिता, तैत्तरीयब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्[९] आदि का उदाहरण देकर अनेकों जातियों का उल्लेख किया है जिससे यह कहा जा सकता है कि तब के समाज में वर्ण व्यवस्था तो महत्त्वपूर्ण ढंग से शनैः-शनैः आकार ग्रहण कर रही थी किन्तु विविध जातियाँ अपने-अपने कर्म के आधार पर अस्तित्व में थी। यही जातियाँ सम्भवतः निरन्तर बाद में भी बनी रहीं और आज भी हम इनका अस्तित्व लगभग उसी रूप में देख रहे हैं।

---

१. ध.इ.,पृ.११६
२. ऋक् १०/१४२/४
३. वही ८/१०२/८
४. वही ९/११२/१
५. वही १०/७२/२
६. वही ८/५/३८
७. वही ३/५/७
८. वै.धा.,पृ. १४८
९. ध.इ.,पृ. ११५

## वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनः स्थापना की संभावनाएँ

सामाजिक व्यवस्थाएँ परिवर्तनशील होती हैं। काल और मनुष्य के वैचारिक परिवर्तन के साथ-साथ ही समाजकी संस्थाएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। हम पूर्व में यह देख चुके हैं कि प्रारम्भ में वर्णों के और आश्रमों के केवल कुछ संकेत ही मिले थे और उनसे यह हुआ था कि आरम्भ में जैसे-जैसे मनुष्य विचारशील होता गया वैसे-वैसे वह समाज के सन्दर्भ में और व्यक्ति के सन्दर्भ में नए-नए आयामों से परिचित होता गया। उसे जब यह लगा कि विना किसी संस्था की स्थापना के समाज के भिन्न-भिन्न विचारों वाले लोग साथ नहीं रह सकेंगे और न अपना-अपना कार्य कर सकंगे तो वर्ण व्यवस्था को व्यापक रूप दिया गया और चारों वर्णों को सम्पूर्ण स्वीकृति प्रदान करने के साथ-साथ उनके लिए कार्यों का बंटवारा भी कर दिया गया। स्मृतिकारों और पुराणकारों ने विस्तार से यह सब लिखा और हजारों-हजार वर्ष तक यह समाज उस व्यवस्था में बंधकर चलता रहा तथा धर्म मानकर अपने कर्तव्य का निर्वाह करता रहा।

जब यह देश विदेशी आक्रमणकारियों से आक्रमित हुआ तथा उनकी विचार-परम्परा ने यहां के लोगों को प्रभावित किया तब यह व्यवस्था किसी न किसी रूप में क्षीण होने लगी। यद्यपि हम आज भी यह नहीं कह सकते कि वर्ण व्यवस्था पूरी तरह से समाप्त हो गयी है किन्तु यह अवश्य है कि आज वर्ण के स्थान पर जाति विचार कुछ अधिक स्वीकार्य हो गया है। इसकी हानि यह है कि पहले वर्णों के लिए जिन कर्तव्यों को धर्म रूप में कहा जाता था और जिसे वे वर्ण अपना धर्म

मानकर उनका पालन करते थे उसमें अब शिथिलता आ गई है और अब सभी सभी, कुछ करने के लिए स्वतंत्र हैं तथा उनके कार्य कर्तव्य रूप में आवश्यक नहीं हैं।

इसी तरह से आश्रम व्यवस्था की भी स्थिति है। तब के समाज में मनुष्य जीवन का एक उद्देश्य बताया जाता था और उसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह क्रमबद्ध रीति से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करेगा तथा आश्रम जीवन से जीकर अपना जीवन पूर्ण करेगा।

आज की स्थिति भिन्न है। जाति की भूमिका प्रभावी हो गई है। जीवन के उद्देश्य बदल गए हैं और अब मोक्ष के लिए प्रयत्न करने का उद्देश्य निरर्थक हो गया है। इस स्थिति में वर्ण और आश्रम व्यवस्था लगभग छिन्न-भिन्न हो गई है और जो भी अब दिखाई दे रहा है, वह केवल इसका अवशेष ही है। अभी वर्तमान की परिस्थितियों, जिनमें सभी स्थितियों में अस्त-व्यस्तता है और वैचारिक दृष्टि से समाज दिग्भ्रमित सा है, तब वर्णाश्रम व्यवस्था का कोई सार्थक भविष्य नहीं दिखता है। किन्तु समय में जो उथल-पुथल है और सभी प्रकार की व्यवस्थाएँ टूट रही हैं, उससे शीघ्र ही यह समाज ऊबेगा और चाहेगा कि कोई विधि व्यवस्था हो, जिसमें और बंधकर सभी अपना जीवन बितावें। तब, अवश्य ही कोई न कोई व्यवस्था समाज स्वीकार करेगा। वह चाहे वर्णाश्रम व्यवस्था हो या अन्य कोई दूसरी व्यवस्था।

## समीक्षा एवं निष्कर्ष

वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक हम वर्णों और आश्रम की स्थिति का अवलोकन कर चुके हैं। इस अवलोकन में यह अनुभव हुआ है कि सम्भवतः इन दोनों की परिकल्पना से ही भारतीय समाज अनन्तकाल से एक श्रेष्ठ समाज के रूप में स्थित रहा और विश्व में इस देश को गौरव मिलता रहा। वर्णों के परिपालन का ही यह महत्त्व था कि सभी वर्ण भिन्न-भिन्न जातियाँ होने पर भी उनके साथ सामञ्जस्य करके अपने लिए निर्धारित कर्तव्य करते रहे और मनुष्य समाज के लिए इस रूप में आदर्श रहे कि कोई तभी श्रेष्ठ होता है जब वह अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है। वर्णव्यवस्था में यह तरलता थी कि जिस किसी वर्ण का व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता था तो वह श्रेष्ठ होता हुआ भी निम्न वर्ण का हो जाता था। जैसे कि कोई ब्राह्मण यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता था तो वह शूद्र कहा जाने लगता था और उसे ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता से च्युत होना पड़ता था। इसीलिए वर्ण व्यवस्था का जो उज्ज्वल पक्ष था, वह यह था कि सभी अपने लिए निर्धारित कर्म करने के लिए स्वतः ही प्रेरित होते थे और समाज में सभी अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन करते थे।

इसी प्रकार से आश्रम व्यवस्था की श्रेष्ठता इस अर्थ में देखी जा सकती है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन के प्रथम भाग में ज्ञान प्राप्त करके पहले ज्ञान से परिपुष्ट होता था और बाद में वह अपने जीवन का भोग रूपी गृहस्थाश्रम का भोग करता था। इसके बाद

वानप्रस्थाश्रम जहाँ व्यक्ति के लिए त्याग और तप का आश्रम था, वहीं यह आश्रम नई पीढ़ी को विकास के लिए पथ देने का भी आश्रम था। घर का युवक जो पुत्र है, वह अपनी इच्छा और स्वतंत्रता से जीवन जी सके इसके लिए वानप्रस्थाश्रमवासी गृहत्याग कर देता था और स्वयम् को त्याग तथा तपस्या से मण्डित करता था। यही स्थिति संन्यासाश्रम की भी थी। हम सभी अनुभव करते हैं कि संसार में जो भी प्राप्तव्य है, वह सभी कुछ क्षणिक और अस्थायी है, इसलिए इस सबको पाकर भी उस परम तत्त्व को पाने का प्रयत्न करें जो नित्य और अनन्त है। इसीलिए चतुर्थाश्रम का अपना महत्त्व था।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारत की वर्णाश्रम व्यवस्था एक श्रेष्ठ व्यवस्था थी और उसके पीछे एक पुष्ट विचार था जिसके आधार पर समाज का सुदृढ़ संगठन और व्यक्ति का उत्कर्ष निहित था।
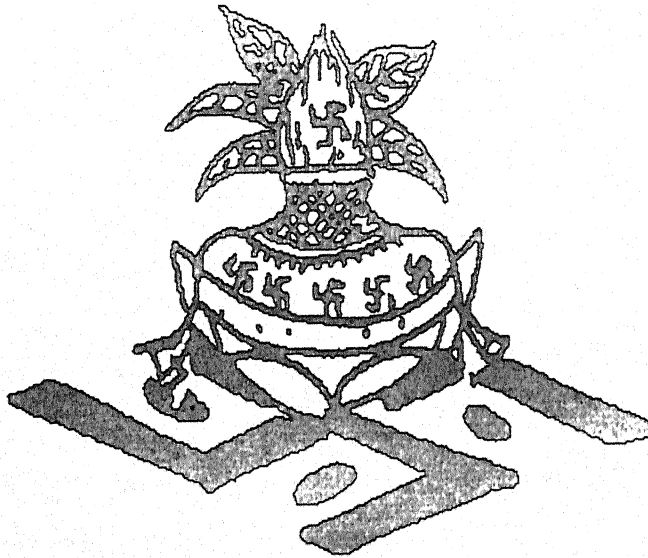
# सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची


| | | |
|---|---|---|
| १. | आपस्तम्ब धर्मसूत्र | पूना - १९३२ |
| २. | आश्वलायन गृह्यसूत्र | ईस्टर्न बुक लिंकर्स-१९७६ |
| ३. | आश्वलायन गृह्यसूत्र | पूना- १९३६ |
| ४. | इतिहास पुराण साहित्य का इतिहास | इतिहास विद्या प्रकाशन दिल्ली१९७८ |
| ५. | इण्टर कोर्स विटवीन इण्डिया एण्ड द वेस्टर्न वर्ल्ड | केम्ब्रिज १९१५ |
| ६. | ईशादि द्वादशोपुनिषद् श्री विद्यानन्द जी गिरि | श्री कैलास विद्याश्रम ऋषिकेश१९७६ |
| ७. | उशना स्मृति | महर्षि उशना |
| ८. | उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति | डॉ० विजयबहादुर राव |
| ९. | ऋग्वेद चतुर्थ खण्ड | आचार्य श्रीराम शर्मा संपादति |
| १०. | एपिग्राफिक इण्डिका | जिल्द छठवी. |
| ११. | एपिग्राफिक इण्डिया | भाग ८ |
| १२. | ऐतरेम ब्राह्मण | सत्यव्रत समाश्रमी सम्पादक कलकत्ता |
| १३. | कादम्बरी कथामुखम् डॉ० राजेन्द्र मिश्र | अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद-१९८९ |
| १४. | कूर्म महापुराणम् | नाम प्रकाशन दिल्ली- १९८३ |
| १५. | कूर्म पुराणाङ्क | गीता प्रेस, गोरखपुर-१९९७ |
| १६. | कौषीतकि उपनिषद् | काबेल द्वारा सम्पादित |
| १७. | कौटिलीय अर्थशास्त्र वाचस्पति गैरोला | चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी-१९६२ |
| १८. | गरुड पुराण | गीता प्रेस, गोरखपुर- २००० |
| १९. | गौतम धर्मसूत्र | पूना १९२५ |
| २०. | जैमिनि पूर्व मीमांसा सूत्र | महर्षि जैमिनि |
| २१. | छान्दोग्योपनिषद् | गीताप्रेस, गोरखपुर |
| २२. | तैत्तरीय संहिता | बम्बई- १८८३ |
| २३. | देवी भागवत | वंगवासी प्रेस, कलकत्ता |
| २४. | द ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया | प्रो. हाकिन्स |
| २५. | धर्म शास्त्राङ्क कल्याण वर्ष- ७० | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| २६. | धर्म शास्त्र का इतिहास भाग-४ - डॉ० काणे | उ.प्र. हिन्दी संस्था १९८४ |
| २७. | नारद पुराण | संस्कृति संस्थान १९९० |
| २८. | बृहन्नारदीय पुराण | बिब्लिथिका इण्डिया कलकत्ता |

| | | |
|---|---|---|
| २९. | पद्म पुराण | स. डा. अशाक चटजा |
| ३०. | पराशर स्मृति | बम्बई संस्कृत सीरीज |
| ३१. | प्रश्नोपनिषद् | गीता प्रेस |
| ३२. | पारस्कर गृह्यसूत्र | बम्बई वि.स. १९८६ |
| ३३. | प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका | लोक भारती इलाहाबाद- १९६६ |
| ३४. | प्राचीन भारत | डॉ० राजवली पाण्डेय |
| ३५. | प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका | डॉ० रामजी उपाध्याय लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद |
| ३६. | पुराण समीक्षा | श्री बल्देवोपाध्याय |
| ३७. | पुराण विमर्श पं. बल्देवोपाध्याय | चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी-१९६७ |
| ३८. | पुराणतल मीमांसा श्री कृष्णमणि | हि.प्र.मण्डल, लखनऊ-१९६१ |
| ३९. | पुराण पत्रिका अंक-१ | काशीराजन्यास वाराणसी |
| ४०. | ब्रह्माण्ड पुराण | खेमराज श्रीकृष्ण मुम्बई-१९०६ |
| ४१. | ब्रह्मवैवर्त पुराण | कलकत्ता प्रकाशन-१८८८ |
| ४२. | बृहदारण्ध्यकोपनिषद् | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| ४३. | बौधायन धर्मसूत्र | बनारस १९३४ |
| ४४. | भगवद्गीता | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| ४५. | श्रीमद् भागवत महापुराण | गीता प्रेस, गोरखपुर सं.२०१० |
| ४६. | भारतीय संस्कृति का विकास-वैदिक धारा | डॉ. मंगलदेव शास्त्री |
| ४७. | मत्स्य पुराणाङ | गीता प्रेस, गोरखपुर १९८४ |
| ४८. | पतञ्जलि महाभाष्य | पूना १९२७ |
| ४९. | महाभारत | गीता प्रेस, गोरखपुर- १९५५ |
| ५०. | मत्स्य पुराण | गीता प्रेस, गोरखपुर- १९८५ |
| ५१. | मनु-स्मृति | हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा |
| ५२. | मार्कण्डेय पुराण | नाम प्रकाशन १९८९ |
| ५३. | मिताक्षरा-याज्ञवल्क्य स्मृति | बम्बई-१९२६ |
| ५४. | मीमांसा प्रमेय डॉ.रामप्रकाश दास | सुकृति प्रकाशन, नईदिल्ली-१९८८ |
| ५५. | यजुर्वेद | संस्कृति संस्थान बोली |
| ५६. | याज्ञवल्क्य स्मृति सं.-वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री | बम्बई - १९२६ |
| ५७. | पतञ्जलियोग दर्शन | महर्षि पतञ्जलि |
| ५८. | लिंग पुराण | मोतीलाल वनारसी दास-१९८० |
| ५९. | व्यास स्मृति | महर्षि वेद व्यास |
| ६०. | वशिष्ठ धर्मसूत्र | महर्षि वशिष्ठ |
| ६१. | बाल्मीकि रामायण | महर्षि बाल्मीति |

| | | |
|---|---|---|
| ६२. | वायु पुराण | नाग प्रकाशन दिल्ली-१९८३ |
| ६३. | विष्णु धर्मसूत्र | महर्षि विष्णु |
| ६४. | विष्णु पुराण भाग-१ | संस्कृति संस्थान बरेली-१९८६ |
| ६५. | वैदिक संस्कृति और सभ्यता | डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम' |
| ६६. | वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी | डॉ० गोपाल शास्त्री नेने<br>चौखम्बा संस्कृत सीरीज-१९५६ |
| ६७. | वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन | डॉ. विश्वम्भरदयाल अवस्थी<br>सरस्वती प्रकाशन मन्दिर इलाहाबाद<br>सन्- १९८३ |
| ६८. | शतपथ ब्राह्मण | काशी विश्वविद्यालय सं०-१९९४ |
| ६९. | शंख स्मृति | आनन्दाश्रम, पूना |
| ७०. | शंख स्मृति | आनन्दाश्रम, पूना |
| ७१. | शुक्र नीतिसार | कलकत्ता- १९९० |
| ७२. | स्कन्द पुराण | वेंकटेश्वर प्रेस, १९१६ |
| ७३. | स्टडीज इन द उपपुराणाज - भाग -१ | प्रो. हाजरा |
| ७४. | स्टडीज इन द एपिक्स एण्ड पुराणाज | ए.डी.पुसाल्कर<br>बम्बई-१९५५ |
| ७५. | संक्षिप्त गरुड पुराण | गीता प्रेस, गोरखपुर वर्ष-७४ |
| ७६. | संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुम | सं.-द्वारिकाप्रसाद शर्मा<br>रामनारायणलाल बेनीमाधव इलाहाबाद<br>सन् - १९७७ |
| ७७. | संक्षिप्त शिव पुराण | गीता प्रेस, गोरखपुर सं. २०५२ |
| ७८. | हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन | डॉ. पी.सी. जैन<br>देवनगर, प्रकाशन, जयपुर'१९८३ |
| ७९. | हिन्दी विश्व कोष | प्रथम खण्ड |
| ८०. | हिन्दु सभ्यता | अनु.-डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल<br>राजकमल, प्रकाशन १९६६ |
| ८१. | ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर प्रथम भाग | विण्टर नित्ज |